गुप्तजी की कला

कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं का
एक आलोचनात्मक अध्ययन

द्वितीय परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण

गुरु जनित यहाँ हुआ शून्य..

सत्येन्द्र, एम. ए.

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

द्वितीय संस्करण

गङ्गा-दशहरा १९९९

मूल्य १)

साहित्य प्रेस, आगरा।

दो शब्द

समालोचना के क्षेत्र में हमारा प्रथम प्रवेश 'गुप्तजी की कला' से हुआ था। सहृदय साहित्यिक बन्धुओं के प्रोत्साहन से हमने इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की और 'साहित्य-सन्देश' ने हमें आगे बढ़ने में मदद दी। इस क्षेत्र में हमारे प्रकाशनों में कई पुस्तकें विश्व विद्यालयों की एम० ए० तक की परीक्षाओं में स्वीकृत हो चुकी हैं और हिन्दी के विद्वानों ने उनको उचित आदर प्रदान किया है। हमारे लिए यह कम गौरव की बात नहीं है।

'गुप्तजी की कला' का यह दूसरा संस्करण है। इसमें कई अध्याय बढ़ा कर और स्थान स्थान पर संशोधन और परिवर्तन करके कवि की सम्पूर्ण कृतियों पर पर्याप्त प्रकाश डालने की पूरी चेष्टा की गई है। वर्तमान रूप में हमारा विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक का समुचित स्वागत करेंगे और इसे 'अप-टू-डेट' पावेंगे। पहले संस्करण के समय यह पुस्तक अपने क्षेत्र में अकेली थी। आज गुप्तजी की रचनाओं पर कई महत्त्व पूर्ण पुस्तकें निकल चुकी हैं और उनका अपना ऊँचा स्थान है। फिर भी हम आशा करते हैं कि विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से 'गुप्तजी की कला' अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रक्खेगी।

—महेन्द्र

गुप्तजी की कला

गुप्तजी और खड़ी बोली

१९०८ ई० मे 'रंग मे भंग' के साथ गुप्तजी ने सब से पहले हिन्दी के साहित्य क्षेत्र मे पदार्पण किया। प्रायः तीन वर्ष उपरान्त आपकी भारत भारती निकली और उससे आपको हिन्दी के सर्व-प्रिय कवियों मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। गुप्तजी की इस सर्व प्रियता से खड़ी बोली का बड़ा हित हुआ।

खड़ी बोली का आरम्भ ब्रजभाषा के साथ ही साथ हुआ माना जाना चाहिए। हिन्दी अपने जन्म से ही ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के साथ खड़ी बोली की प्रवृत्ति भी लिए आयी थी। हिन्दी के विकास मे इतिहासो ने जो हिन्दी की मूल अपभ्रंश के उदाहरण उद्धृत किये है उनसे, और राहुलजी द्वारा आविष्कार किये हुए सिद्धों के गीतो से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दोनो ही प्रवृत्तियाँ सहज थी।

'नव जल भरिया मग्गड़ा गयणि धडक्कइ मेहु
इत्थंतरि जरि आविम्हिइ तउ जाणीमिइ नेहु

तथा

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कन्तु

ये उदाहरण हेमचन्द्रसूरि की व्याकरण से लिए गये हैं, और इनमें स्पष्ट ही खडी बोली की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उधर सिद्धों के गीतो को लीजिए, निस्सन्देह उनमें यह प्रवृत्ति विशेष तो नहीं मिलती पर एक-दो ऐसे चरण पा जायँगे जिनसे यह कहा जा सकेगा कि पूर्व मे रहनेवाले इन सिद्धों पर भी उस काल की इस एक भिन्न प्रवृत्ति का प्रभाव कुछ न कुछ पड़ा अवश्य था—उदाहरणार्थ शवरपा सिद्ध जो ७८६–८०६ ई० मे हुए उनकी इस पंक्ति को लीजिए:—

सून निरामणि कण्ठे लइआ मत छुटे राति पोहाई

तो व्रजभाषा के हाथ मे हाथ दिये खड़ी बोली उतरी, पर आरम्भ से ही उसने लचकना या झुकना न जाना था, जो उसकी आकारान्तात्मकता से स्वयं सिद्ध है। फलत: वह काव्य-भाषा न बन सकी, क्योंकि उस समय कविता के लिए भाषा में कोई बन्धन नहीं स्वीकार किया जा सकता था। कवि अपनी बोली मे तोड़-मरोड का जैसे भी चाहे वैसे शब्द रखने के लिए स्वतन्त्र हो तो ऐसी ही भाषा उसको सुगम हो सकती है और ऐसी ही भाषा वह प्रयोग कर सकेगा—और इस विधि का अनुकरण करते ही खडी बोली खडी बोली नहीं रह पाती।

इस प्रकार यह खड़ी बोली उपेक्षित रही, पर मर नहीं सकी। यदाकदा जैसे अमीर खुशरो की रचनाओं मे, कहीं-कहीं भूषण मे, गंग मे इसका रूप प्रस्फुटित हो उठता रहा और इसके अस्तित्व की साक्षी मिलती रही। इन साक्षियों को टाला नहीं जा सकता, चाहे पृथ्वीराजरासो मे मिलने वाले खड़ी बोली के उदाहरणो को

प्रक्षिप्त और उसके आधार पर सम्पूर्ण रासो को प्रक्षिप्त कह कर भले ही उपेक्षित कर दिया जाय।

खड़ी बोली में स्वभावतः गद्यात्मकता को प्रधानता है, और जब भारतेन्दुजी के उदय होने पर गद्य का युग व्यवस्थित हो आया तो खड़ी बोली का रूप भी सँवर उठा, और उसने अन्य सब भाषाओं को निरादृत करके प्रधान स्थान पाने की ओर पग बढ़ाया।

भारतेन्दुजी ने जब "कालचक्र" नाम की अपनी पुस्तक में यह नोट किया कि "हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०" तब १८७३ से १९०८ इन ३५ वर्षों में हिन्दी का क्या रूप था यह समझ लेने पर ही हम गुप्तजी की देन को समझ सकेंगे।

भारतेन्दुजी विपुल प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने खड़ी बोली को गद्य मे तो व्यवस्थित करके रखा ही था, पद्य मे भी उसकी नितान्त अवहेलना नहीं की। साधारणतः वे पद्य के लिए व्रजभाषा ही उपयुक्त समझते है, पर सम्भवतः वे यह दूर दृष्टि से समझ सके थे कि जो भाषा आज हमारे काम काज और साहित्य के विशेष अंग की प्रधान भाषा बनती चली जा रही है, यह कैसे सम्भव है कि उसमे कभी कविता की रचना करने का प्रश्न न उठे। तो उन्होंने एक-दो नाटकों मे खड़ी बोली का, प्रयोग (experiment) की भांति, पद्य मे उपयोग किया। उदाहरणार्थ

"कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ कर हमको सिधारे॥"

तो भी भारतेन्दुजी खड़ी बोली को काव्य में अपना न सके, सम्भवतः वे यही सोचते थे कि "व्रजभाषा सी पै मिठिलौनी कहाँ ?"—दूसरे, भारतेन्दुजी मे वैष्णव कल्पना थी, उसने उन्हें और भी खड़ी बोली से स्थायी नाता स्थापित करने में बाधा पहुँचाई—तो एक प्रकार से भारतेन्दुजी ने यह निश्चय किया कि गद्य

खड़ी बोली में और पद्य 'ब्रज' में लिखा जाय। एक प्रकार से यह समझौता सभी हिन्दी लेखकों ने स्वीकार कर लिया।

उधर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा था कि बोल-चाल की भाषा और काव्य-भाषा में भेद नहीं होना चाहिए. और इस बात में आकर्षण था। श्रीधर पाठकजी ने बिना किसी सफाई या कारण दिखाये 'एकान्तवासी योगी' खड़ी बोली में लिखा—इस प्रकार हिन्दी की खड़ी बोली उतार-चढ़ाव रखती हुई बढ़ रही थी—पर काव्य में वह सर्वमान्यता नहीं पा सकी। श्रीधर पाठकजी भी केवल खड़ी बोली में ही नहीं लिखते थे, ब्रजभाषा भी उन्हें प्रिय थी।

किन्तु खड़ी बोली के इतिहास में एक महत्वपूर्ण रचना हुई प्रिय-प्रवास की—और उसकी भूमिका में उपाध्यायजी ने उदाहरणों और तर्क के साथ यह सिद्ध करने का उद्योग किया कि मिठलौनापन' ब्रजभाषा की बपौती नहीं। इस तर्क ने खड़ी बोली के होनहार कवियों को आन्तरिक बल प्रदान किया, और उनकी रचना में दृढ़ता स्थान पाने लगी।

सन् १६०० से सरस्वती का प्रकाशन हुआ और पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के हाथों में आकर वह खड़ी बोली को,पूरा-पूरा प्रोत्साहन देने लगी। श्री अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' जिसके लिए केवल तर्क दे सके थे, द्विवेदीजी उसे रचनाओं द्वारा प्रकट करने में प्रवृत्त हुए। और इसमें उनको सब से अधिक सफलता मिली गुप्तजी को चुन लेने में, तथा उनको प्रोत्साहित करने में।

गुप्तजी से पहले की खड़ी बोली की कविता के कुछ नमूने देखिए:—

पाठकजी के 'एकान्तवासी योगी' में से :—

"आज रात इनसे परदेसी चल कीजे विश्राम यहीं
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं

तृण शय्या औ अतथ रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आसिर्वाद

सांध्य अटन' में से—

विजन वन-प्रान्त था, प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल-अरविन्द-नभ नील सुविशाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।

हरिऔधजी के 'प्रिय प्रवास' में से—

"ऊधो को पथ में पयोद-स्वन सी गम्भीरता-पूरिता,
हो जाती ध्वनि एक कर्ण-गत थी प्राय सुदूरा गता।
होती थी श्रुति-गोचरा अब वही न्यारी ध्वनि पास ही,
उद्भूता गिरि के किसी विवर से सद्वायु-संसर्गतः।
सावाश्रयता अचिन्त्य - दृढता निर्भीकता उच्चता,
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी क्षमा शीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा,
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का।

पाठकजी की रचनाओं में ललित गतिमत सुघराई मिलती है, स्वाभाविकता भी है पर खड़ी बोली के योग्य परिमार्जन का अभाव है। परदेसी, कीजै, औ, रसोई, आसिर्वाद जैसे शब्दो में सुनिश्चित रूपात्मकता (definite form) का अभाव है। लालित्य है, पर आज की दृष्टि से साहित्य-सौष्ठव के मान की तुलना मे 'रसोई' जैसे शब्द भावाभिभूत होते हुए भी ग्राम्य प्रतीत होंगे; ओज पर पाठकजी की दृष्टि नहीं।

शब्दो की सुनिश्चित रूपात्मकता का अभाव 'हरिऔध' में भी है। समास बहुला, कठोर शब्द-मैत्री से संयुक्त कृदन्त-प्रधान प्रणाली मे संस्कृत कोष से विपुल शब्दावली लेकर प्रिय-प्रवास

की रचना हुई, फलतः 'प्रिय-प्रवास' प्रिय तो हुआ, साहित्य-क्षेत्र में उसकी धूम भी मची पर वह कोई व्यवस्थित मार्ग उपस्थित नहीं कर सका। भूमिका के तर्कों से खड़ी बोली को हरिऔधजी से जो आशा हुई थी वह सम्पूर्णतः 'प्रियप्रवास' ने पूर्ण नहीं हो सकी—हाँ संस्कृत प्रणाली की ललित रचनाएँ 'प्रिय-प्रवास' में रसिकों को अवश्य ही लुभाने वाली सिद्ध हुईं।

उपाध्यायजी की दूसरी प्रकार की ऐसी रचनाएँ—

चार डग हमने भरे तो क्या किया
है पड़ा मैदान कोसों का अभी
मौलवी ऐसा न होगा एक भी
खूब उर्दू जो न होवे जानता।

हिन्दी को जैसे अपने क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र की लगीं—सम्भवतः इन पंक्तियों में उसे आगे जाकर जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहा गया उसकी गन्ध आ गयी थी।

इन सब प्रकार की रचनाओं में भाषा के सम्बन्ध में अनिश्चितता और अस्थिरता थी। 'खड़ी बोली' है इसे सब जान गये थे, उसकी धुँधली रूपरेखा भी उनके सामने उतर आयी थी, पर उस सब पर तत्कालीन अन्य भाषाओं की प्रवृत्तियों का रङ्ग पड़ा हुआ था। जिसे यह कह कर ग्रहण किया जा सके कि हाँ यह हिन्दी ही है और इसमें कोई दूसरा रङ्ग नहीं, ऐसी भाषा का व्यवस्थित रूप सामने नहीं आया था, यही कारण था कि अब तक की खड़ी बोली की रचनाएँ लोक-प्रिय न हो सकी थीं, साहित्य-प्रिय भले ही रही हों। अब तक की रचनाओं के सम्बन्ध में भी यह भी एक तर्क दूसरा वर्ग देता रहा था कि खड़ीबोली बिना ब्रजभाषा का सहारा लिए नहीं चल पाती। बात यह थी कि पाठकजी ने और हरिऔधजी ने भी ब्रजभाषा के शब्दों का परित्याग नहीं किया था—फलतः खड़ीबोली की कोई भी रचना

ब्रजभाषा के चढ़े हुए नशे को अभी तक चूर नहीं कर पायी थी—

और यह लोभ गुप्तजी ने किया, उनके जयद्रथवध ने ब्रज-भाषा के मोह का वध कर दिया, और भारत-भारती में तो जैसे सुनिश्चित भारतीय भाषा का सतेज रूप ही खड़ा हो गया। अब तक के सम्पूर्ण ग्रन्थ लोकप्रियता मे भारत-भारती से पिछड़ गये। भारत-भारती को लोगो ने भी चाव से हाथोहाथ लिया, जैसे उन्हें उनकी कोई खोई हुई चीज मिल गई हो, जैसे जिसके लिए वे हृदयों मे तड़पन लिए फिर रहे थे वही उन्हें उपलब्ध हो गयी।

भारत-भारती का विषय उसकी भाषा के अनुकूल था और भाषा विषय के अनुकूल थी। हृदयो मे जो क्रान्ति भारत-भर में उत्पन्न हो चुकी थी वह भारत-भारती की भाषा में प्रतिध्वनित हो उठी। इस प्रकार खड़ीबोली की काव्य भाषा का सुनिश्चित रूप द्विवेदीजी की प्रेरणा से अनुप्राणित होकर और कवि की ओज-पूर्ण कल्पना से रञ्जित होकर खड़ा हो गया और इस भारत-भारती की घटना से वह घटना घट गई जिसे अब तक असम्भव समझा जाता रहा था।

गुप्तजी ने भाषा को सबसे बड़ी देन यह दी कि उसका ठीक-ठीक रूप रख दिया, खड़ीबोली को अपने पैरों खड़ा कर दिया। उसकी अनिश्चितता दूर कर दी, उसमें व्यवस्था ला दी। उसमें ओज और बल भर दिया—और इस भाषा के लिए लोक-सम्मति बना दी—

> अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं ?
> क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं ?
> क्या हम सभी मानव नहीं. किंवा हमारे कर नहीं ?
> री भी उठें हम तो बने क्या अन्य रत्नाकर नहीं।

विषपूर्ण ईर्ष्या, द्वेष पहले शीघ्रता से छोड़ दो;
घर फूँकनेवाली फूटैली फूट का सिर फोड़ दो।

यह अंश भारत-भारती के सन १९१३ के दिसम्बर की सरस्वती में प्रकाशित अंश से उद्धृत किये गये हैं और इन वाक्यों के देखने से कई बातें बहुत स्पष्ट विदित होंगी—

"इसमें कोई भी अर्द्ध-स्फुट वाक्य नहीं। सभी वाक्य व्याकरण सम्मत, कर्ता-कर्म-क्रिया संयुक्त, पूर्ण वाक्य है। वाक्यों में संक्षिप्त (brevity) का ध्यान नहीं जितना स्पष्टता (clearity) का और पूर्णता का है। पाठकजी के जैसा नहीं—जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण सङ्कोच नहीं—इसमें 'मेरे' को यातो कुटी के साथ 'मेरी' करना होगा, न करने से व्याकरण-दोष भेद्य और लेखक की एक लिङ्ग न होने से होगा, या मेरे के उपरान्त 'पास' या 'यहाँ' जैसे शब्द और जोड़ने पड़ेंगे अर्थ-पूर्णता के लिए। इसी प्रकार 'सङ्कोच नहीं' होना सङ्कोच करने की बात नहीं।

बोल-चाल के भाषा-क्रम में कविता के निमित्त भी बहुत कम हेर-फेर किया गया है। वाक्य के विन्यास की निश्चित-विधि का ही बहुधा पालन किया गया है। "क्या हम सभी मानव नहीं? किंवा हमारे कर नहीं?" इसी पंक्ति में गद्य का रूप भी इस पद्य से भिन्न होगा।

शब्द सभी सुसंस्कृत है, अथवा साहित्य में गृहीत है, अथवा प्रयोगानुकूलता से उन्हें इतना विवश कर दिया है कि वे दोष छोड़ बैठे हैं। शब्द छोटे है, समास बहुत नहीं, शब्दचयन में शब्द-रूप का ध्यान रखा गया है कवि शब्दालङ्कारों को तो लाया ही है। वृत्ति के रूप पलटने के साथ साथ ही शब्दों के अक्षरों का रूप दूसरा हो गया है। ऊपर जहाँ सहज भावों का वर्णन है साधारण शब्द हैं कोमलता लिए हुए, किन्तु अन्त में आवेश बढ़ने से ट वर्ग के अक्षरों की संख्या बढ़ गयी है।

अतः द्विवेदी जी के द्वारा व्यवस्थित किये गये हिन्दी के रूप को उन्होंने सबसे अधिक सफलता और बहुलता से प्रकट किया, और उसमे ओज भर दिया तथा उसकी शब्दावली बढ़ायी। जो खड़ीबोली कुछ काल पूर्व बाल फकेरे अस्तव्यस्त रूप मे थी वह गुप्तजी के हाथों सज-सुथर गयी, उसको राजमार्ग मिल गया, और अब वह ओज भरे बल से आगे क़दम बढ़ाती चली। गुप्तजी ने खड़ीबोली की काव्योपयोगिता निर्विवाद सिद्ध करदी।

'खड़ीबोली' मे कविता हो ही नहीं सकती क्योंकि उसमे शब्दो के स्थानानुरूप विकृत करने की स्वतन्त्रता नहीं—ऐसा अब नहीं कहा जा सकता, वह बिना विकृत हुए ही 'कविता' का अभिप्राय पूर्णतः सिद्ध कर देती है।

'खड़ीबोली' मे शब्दाभाव है, उसे व्रजभाषा पर निर्भर करना पड़ेगा—ऐसा संदेह भी गुप्तजी को आरम्भिक रचनाओ से दूर होगया।

'खडीबोली' सर्व प्रिय भाषा नही हो सकती—बोलचाल की भाषा भी क्या कविता का कोई माध्यम है, इसका मुँह तोड़ उत्तर गुप्तजी की भाषा ने देदिया। उसे अपने भावो को व्यक्त करने का कितना सहज स्वाभाविक प्रवाह पूर्ण साधन गुप्तजी ने बना डाला है।

हाँ, इस सम्बन्ध मे बस इतना ही सत्य है। गुप्तजी को नयी भाषा को प्राणान्वित करने वाला ही कहा जा सकता है, निर्माता नहीं। श्रीधरपाठक में जिस काव्य-भाषा ने अपना रूप सँवारा, उसका स्वभाव निश्चित करने मे गुप्तजी ने भी हाथ बँटाया। खड़ी बोली मे गुप्तजी के आरम्भ काल मे एक नहीं कई सुकवि अपनी कवितायें लिख रहे थे, 'सरस्वती' मे तो खड़ी बोली की ही रचनाएँ प्रायः प्रकाशित होती थीं। जिस काल मे भारत-भारती के अंश 'सरस्वती' में प्रकाशित हो रहे थे, उस काल की १९१३ सन्

की सरस्वती में वर्ष भर में हमें एक भी 'ब्रजभाषा' की कविता न दिखाई पडी। इस काल के खडीबोली काव्य के प्रधान लेखक मन्नन द्विवेदी गजपुरी, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, रूपनारायण पांडेय, पांडेय लोचनप्रसाद, तथा सियारामशरण गुप्त हैं।

गजपुरी जी की उस काल की 'विश्व-वाटिका' में भ्रमण कीजिए—

'यदि थक गये हों काम से तो साथ मेरे आइए,
कैसे अनूठे दृश्य—इनको देखिए दिखलाइए।
संसारकी सब वस्तु ही अद्भुत मिलेगी आपको,
लेकिन न घबरावो यहाँ, छोडो सभी सन्तापको।

या त्रिपाठीजी के 'राम' को देखिए—

सत्पुरुष-पुङ्गव, सत्यवादी, सयमी श्री 'राम' थे।
प्रतिभा-निधान, पराक्रमी, धृतिशील, सद्गुणधाम थे॥
परम-प्रतापी, प्रजा-रंजन, शत्रु-विजयी वीर थे।
ज्ञानी, सदाचारी, सुधी, धर्मज्ञ, दानी, धीर थे।
कल्याणकर उनके सभी शुभ लक्षणों को धारलो।
पढ़ मित्र पूर्ण-पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो॥

या उपाध्यायजी के 'परोपकार' की तरंगों मे बहिए :—

दीनता को दूर कर उपकार में जो लीन है।
पूज्य है वह, क्योंकि अच्छा कर्म ही कौलीन है॥
दिव्य कुल में जन्म ही से लाभ कुछ होता नहीं।
क्या मनोहर फूल में लघु कीट है होता नहीं।

× × ×

इन्दु नभ को छोड जो रहता न हर के साथ में,
भस्म से क्यों लिप्त होता पड पराये हाथ में?

अथवा रूपनारायण पाण्डेय से 'एक आवश्यक प्रश्न' का उत्तर सुनिए:—

आस्तिकता में आज घोर नास्तिकता छाई।
ईश्वर तो है ? मगर न उसका भय है भाई॥
करते कठिन कुकर्म नहीं डरते हैं मन में।
भडुओं के भी भक्त लगाते छापा तन में॥
इस प्रकार चारों तरफ बुद्धि विपर्यय हो रहा।
आर्य जाति के लोप का जिसे देख भय हो रहा।

अथवा पांडेय लोचनप्रसादजी से राना सज्जनसिंह की बाबू हरिश्चन्द्र के प्रति उदारता का वृत्तान्त पढ़िये:—

पद्म राग के आकर में क्या काँच कभी होता उत्पन्न।
सिंह-सिंह ही है यद्यपि वह हो जावै अति विवश विपन्न॥
इस नीरसता युक्त कृपणता के नवयुग में भी चित्तोर।
बना हुआ है तू भारत की नृपति-मण्डली का सिरमौर॥

× × ×

विद्या-भूषित सत्कविता का आदर करने से सविशेष,
बन्दनीय हो रहे सुर सदृश राना सज्जन सिंह नरेश—
"बाबू हरिश्चन्द्र जी ! समझो राज्य हमारा अपनी सीर"—
धन्य धन्य ऐसी आज्ञा के देने वाले भूपति वीर !

और इन सब रोचक उदाहरणों में आपको यह बात मिलेगी कि खड़ी बोली के काव्य-भाषा की रूप-रेखा तो बन गयी है। फिर भी इसने अभी वह तल 'standard' ग्रहण नहीं कर पाया कि कैसा ही उतार-चढ़ाव उसे मिले, कितनी रंगीनी उसे भरनी पड़े वह अस्त-व्यस्त, शिथिल अथवा दुर्विनीत नहीं होगी, उसने अभी अपने सुस्थिर मुकर रूप में कोई लम्बी यात्रा नहीं कर पायी। गुप्तजी ने विविध भावों के हिंडोलों में झुला कर, विविध दृश्यों का पर्यवेक्षण कराके, विविध तर्कों में वाक्वैदग्ध्य

का आनन्द दिलाकर, विविध रसों से विभोर बनाकर उसे (standerdised) एक स्थिति-प्रमाण-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसे परिपक्व और परिपुष्ट कर दिया, उसे ओजवान और शक्तिवान कर दिया, प्रवाह और प्रभाव की दिशा दिखादी—और यही उस काल तक के खडी बोली के अन्य कवि नहीं कर पाये। वे कवि गण अपनी शक्तियो का समन्वय कर केवल काव्य-भाषा की प्रतिष्ठा मे व्यय नहीं कर सके, जो श्री० गुप्तजी ने किया।

रूप-निर्माण द्विवेदीजी की प्रेरणा से हो चुका था, काव्य-भाषा मे उसकी प्रतिष्ठा और परिपक्वता मे गुप्तजी का हाथ था, पर उस से भी अधिक श्रेय गुप्तजी को इसलिए है कि उन्होंने खडीबोली को 'प्राणवान' कर दिया—उस काल के सभी कवियो में आपको शब्द-भण्डार का अभाव नहीं मिलेगा, चुने हुए शब्द पाठकजी से लेकर सियारामशरणजी तक ने अपनी कविता में रखे—केवल चुने हुए ही नहीं—विविध रङ्गों के, विविध अर्थों के भी; उन शब्दों को शक्ति-हीन भी नहीं कहा जा सकता—किन्तु शब्द मात्र की शक्ति भाषा की शक्ति नहीं, शक्तिवान शब्द तो एक अस्त्रागार मे संग्रहित तीक्ष्ण तीव्र अस्त्र-शस्त्रों के समान है, उनके उपयोग की वास्तविक सामर्थ्य से भी अधिक उनको उपयोग करने का कौशल चाहिए। शब्दो में इस कौशल के साथ ही एक और तत्व काम करता है, बिना उस तत्व के शब्दों का उपयोग मात्र 'भाषा' का नाम नहीं ग्रहण कर पाता : वह है शब्दों के ग्रन्थन से प्राप्त भाषा के वाक्य का विन्यास। इस विन्यास का यों ढाँचा खडा करना, नियम और विधि में बँधकर कुछ तोलियो को जोड कर रख देने से 'भाषा' अपनत्व नहीं ग्रहण कर पाती। 'जान डालना' एक मुहावरा है, और भाषा में यह 'जान डालना' उसे प्राणान्वित करना है। निर्जीव भाषा के घरौंदे बनाना सम्भवतः कठिन नहीं। गुप्तजी से पूर्व खड़ीबोली को

कविता के लिए प्राणान्वित भी भली प्रकार कोई नहीं कर पाया था। कृष्ण के पाञ्च जन्य की गूंज से भाषा चैतन्य हो उठी, प्राणान्वित हो उठी गुप्तजी के वाक्य एक विशेष गति से स्पन्दित हो उठे—उनमें ऊष्मा आ गयी। वे ठंडे, अवरुद्ध, अस्फुट और अजीर्ण ग्रस्त नहीं रहे, सजग, चैतन्य, स्फूर्तिवान पैतरे वदलते हुए दिखायी देते है। भारतीय क्रान्ति के उस प्रथम उत्थान मे ऐसी ही भाषा का मान वढ़ सकता था।

उस समय १६१३ मे संयुक्त प्रान्त की प्रारम्भिक शिक्षा-कमेटी के एक सदस्य श्रीयुत असगर अलीखां ने अन्य सदस्यो से अपने अकेले का प्रतिकूलता ज्ञायक वक्तव्य (Minute of Dissent) उस कमेटी के निश्चयो पर लिखा था और उसमे आपने कहा था कि:—

"मै इस प्रान्त मे हिन्दी जैसी भाषा का इस अर्थ मे होना किञ्चित भी नही मानता जिस अर्थ मे कि हम किसी ऐसी जीवित भाषा के सम्बन्ध में इसका प्रयोग करते जिसका कोई सुनिश्चित साहित्यिक मान हो, जिसको बोला जाता हो और लिखा जाता हो, और जो चिट्ठी-पत्री के काम मे आती हो तथा कचहरियो मे जिसका प्रयोग होता हो। तथ्यत. प्राचीन भाषा, जो संस्कृत की भांति मृतक भाषा है, और जिसे केवल संस्कृत विद् ही समझ सकते हैं, हिन्दी के नाम से एक नई भाषा के रूप में पुनरुज्जीवित की जा रही है, उस उर्दू या हिन्दुस्तानी का अहित करने के लिए जो देश की माध्यम भाषा है और जो स्वयं एक ओर अरवो और फारसी तथा दूसरी और सुदूर भूत मे निर्जीव हुई भाषा और संस्कृत का एक सामञ्जस्य है और जो विगत तीन शताब्दियों से यहां सर्वसाधारण के काम में आती रही है।"

गुप्तजी की भाषा ने सर्वमान्यता पाकर इसका करारा उत्तर

दिया, जैसे पूछा हो—तो जो मैंने लिखा है, और जिसे हाथों हाथ सब ने स्वीकार किया है, वह क्या है ? *

—— ——

* "I beg to deny the presence in these provinces of any such thing as Hindi language in the sense in which we use the term when speaking of any living language which has a fixed litterary standard, is spoken and written, and is used in correspondence and in law courts As a matter of fact ancient Bhasha which like Sanskrit is a dead language and is intelligible to those only who know Sanskrit is now being revived in the form of a new language under the name of Hindi to the detriment of Urdu or Hindustani, which is the lingua franca of the country and is in itself a compromise between the Arabic and Persian on one side and the long defunct Bhasha and Sanskrit on the other and has been in common use for the past three centuries"

गुप्तजी की कला

दूर एक कोने मे बैठा हुआ, पुराने विशाल खँडहरो की कुछ सामग्री लेकर, अपनी कलाशाला मे कलाकार जीर्णोद्धार ही नही कर रहा है, वरन् मूर्तियो को जोड़-तोड कर नया रँग भर रहा है—उन्हे नवजीवन से जोवित कर रहा है। अब उसका वह कलाभवन भर-सा चुका है। यह उसने भारत की भारती की मूर्त्ति बनाई है। भारतमाता के मन्दिर के अनन्य पुजारी ने कैसा ओज भरा है, कैसा दर्प अङ्कित किया है और कैसे क्षोभ की रेखाएँ डाली हैं। इसमे जहाँ एक ओर जयद्रथ, अभिमन्यु, अर्जुन और कृष्ण द्वारा किया हुआ संग्राम रचा गया है; वहाँ दूसरी ओर बौद्धो के अनघ और यशोधरा सजाए गए है। राम और उनके चरित्र का तो यहाँ प्रधान स्थान है, जिसमे स्त्री-जाति का तेज तपे हुए सोने की भाँति उद्दीप्त करती हुई उर्मिला भवन को प्रकाशित कर रही है। कृष्ण-जीवन का सहचारी वर्ग भी सन्धियुग मे खडा है—हरएक अपनी-अपनी मनोव्यथा और निजी कथा कहने मे व्यस्त। सारी सामग्री पर उदार वैष्णव रंग चढ़ाया गया है, और सभी मूर्तियाँ भारतमाता के मन्दिर की

शोभा और श्री को प्रोत्साहित और प्रकाशित करने के लिए हैं। यहाँ की सात्विकता से विमोहित होना ही पड़ता है।

इस बात को कोई भी अस्वीकार न करेगा कि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने हिन्दी काव्य-संसार में अपने लिए एक निराला स्थान बना लिया है। उनमे असाधारण आकर्षण है और अब वह समय भी आ गया है जब यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि गुप्तजी में आखिर यह आकर्षण है क्यों? उन्होंने जो अभिव्यक्ति की है उसमें अब कुछ अध्ययन-योग्य तत्व प्रतीत होता है। उनकी कला का रूप और रहस्य समझने की बलवती इच्छा उदित दिखाई देती है। अब इसकी अवहेलना कर सकना सम्भव नहीं है।

प्रत्येक कवि यदि वह वास्तव में कवि है तो सृष्टि करता है, और उसमें शक्ति एवं ओज भरता है। पर, इन सबको कवि स्वयं स्फुट नहीं कर सकता। वह यह सब साहित्य के जिज्ञासुओं तथा काव्य-मर्मज्ञों के लिए छोड़ देता है। इस सृष्टि तथा शक्ति का परिचय कवि तथा उसकी अभिव्यक्ति के अध्ययन से ही मिल सकता है· कवि की कला को जानना इस दृष्टि से अनिवार्य है।

× × × ×

कवि की कला का स्वरूप उसकी परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर है। अपने चारों ओर के वातावरण का कवि की कला और उसके आदर्श पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। इसी दृष्टि से कलाकार के जीवन की बहुत-सी घटनाओं का मूल्य है। स्त्री द्वारा दी हुई चेतावनी का तुलसी पर जो प्रभाव हुआ है उसे काव्य-मर्मज्ञ भलीभाँति जानते हैं। हमारे गुप्तजी भी परिस्थितियों द्वारा पड़ने वाले प्रभाव के अपवाद नहीं। किन्तु यह प्रभाव उनकी घरेलू व्यवस्था का उतना नहीं जितना देश की परिस्थिति का। गुप्तजी का घरेलू जीवन साधारणतया शान्त

और मधुरिमामय रहा है; वैष्णव भक्ति की अबाध धारा उनके चारों ओर प्रवाहित होती रही है एवं मानव-जनोचित उतार-चढ़ाव का भी आपको अनुभव हुआ है। इन सबका भी प्रभाव उनकी कला पर है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि गुप्तजी मे एक वैयक्तिक विशेषता है, जिसके कारण ऐसे व्यतिक्रम विचार-धारा मे बहुत अधिक आघात पहुँचाने वाले नही हुए हैं। उनकी काव्यधारा मे उनके वैयक्तिक जीवन का प्रतिबिम्ब ढूँढने की आवश्यकता नही। घर ने अपनी सम-अवस्था रखी और अपने अस्तित्व और प्रभाव मे विसर्जित होकर, गुप्तजी के कवि को अन्य उच्चताओ के लिए अवकाश दिया। इसी कारण बाहरी जगत के तादात्म्य मे उनका मानसिक जीवन संवेदना से परिप्लावित है। उसमे बवण्डर और क्रान्तियाँ है—जीवन की सरस मनोरमता के आगे आग के तूफान तक उठे हैं—पर वे शान्त हुए हैं और उनके बाद आशा के हरे-भरे शाद्वल अनिर्वचनीय आकर्षण से फलते मिलते हैं। उस सब की रूपरेखा जानने के लिए निर्माण सामग्री का विश्लेषण अपेक्षित है।

मैथिलीशरण गुप्त के विषय

किसी भी कवि पर विचार करने के लिए उसके विचार-क्षेत्र से परिचित होना आवश्यक है। विचार की दो कोटियाँ होती हैं:—(१) वस्तु-संबन्धिनी (Objective), (२) भाव-संबंधिनी (Subjective)। पहिली दृष्टि से हम यह देखेंगे कि मैथिलीशरण ने अपनी प्रतिभा के विकास के लिए सामग्री कहाँ से एकत्र की है। उनके ग्रन्थों मे "भारत भारती" का नाम सब से पहले आता है। इस पुस्तक मे कवि ने भारत के पूर्व गौरव और वर्तमान दैन्य को प्रकट किया है। यह राष्ट्रीय विचारों की पोषक पुस्तक है। इतिहास की ओर भी इस पुस्तक में रुचि दिखाई पड़ती है। भूत, वर्तमान और भावी सभी कालों का विवेचन किया तो राष्ट्रीय काव्यात्मा की दृष्टि से ही गया है, पर आधार उसका इतिहास ही है। उसका सार तो इन्हीं पंक्तियों में आजाता है, जब कि वे कहते हैं :—

"हम कौन थे क्या होगए हैं और क्या होंगे अभी।"

इस पुस्तक के विषय से स्पष्ट विदित होता है कि गुप्तजी का झुकाव इतिहास की ओर है। इस पुस्तक के विषय के प्रतिपादन, भाव-दिशा और भाव-निरूपण की दृष्टि से यह राष्ट्रीय जाग्रति के हरिश्चन्द्र कालीन अवस्थिति की परम्परा में कही जायगी। भारतेन्दुजी के ये वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं :—

आवहु सब मिलकर रोवहु भाई,
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।

हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई—इस काल में राष्ट्रीयता

की चेतना का उद्योग यही था कि प्राचीन इतिहास की साक्षियां देकर भारत के प्राचीन सुप्त पुरुष को जगा दिया जाय। यह सब वर्त्तमान दुर्दशा का उल्लेख उसके लिए रोना, अथवा समस्याओं पर विचार करना एक ही परम्परा मे आबद्ध है।

इस "भारत भारती" मे 'किसान' आदि जैसे विशद भावुक वर्णनों में मैथिलीशरणजी की महाकाव्य-कारिणी प्रतिभा के दर्शन होते है। उनका "जयद्रथ वध" "वक संहार", "वन वैभव" तथा "सैरन्ध्री" महाभारत के कुछ मार्मिक स्थलो के जीर्णोद्धार हैं। "द्वापर" श्रीकृष्णलोला के विविध पात्रों की विचार-विज्ञप्ति है।

"पंचवटी" और "साकेत" रामचरित्र पर आश्रित है। "अनघ" और "यशोधरा" बौद्ध साहित्य की विभूतियाँ हैं। "गुरुकुल" और "तेगबहादुर" सिक्खों के इतिहास से चयन किए गए हैं। "सिद्धराज" मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति की व्याख्या है। "चन्द्रहास", "तिलोत्तमा","शकुन्तला" और "नहुष" आदि पौराणिक कथानको के चित्र हैं। इस प्रकार हमें गुप्तजी की कृतियों मे छः मुख्य दिशाएँ दिखलाई पड़ती हैं—(१) राष्ट्रीय, (२) महाभारत-सम्बन्धिनी, (३) रामचरित-सम्बन्धिनी, (४) बोद्ध-कालीन, (५) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक घटना-संबंधिनी और (६) पौराणिक। इनके अतिरिक्त सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप, यद्यपि "झंकार" आदि में फुटकर कविताएँ भी प्राप्त हैं, परन्तु इनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति किसी न किसी कथानक के सहारे ही विकसित हुई है और वस्तुतः इसी ओर इन्हे विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है। कथानक के सहारे ही कविता होने के कारण इनकी रचनाएँ अधिकांश या तो खंडकाव्य है या महाकाव्य।

विषयों में दृष्टि-कोण और विकास

विषयों पर विचार करने से हमें कवि के अन्दर कई भावनाएँ काम करती दिखाई देती हैं। इन भावनाओं में धीरे धीरे विकास भी होता गया है। कवि राष्ट्रीय शंख-ध्वनि के साथ काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। 'भारत भारती' या 'जयद्रथ-वध' में हमें इसी राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं, परन्तु 'जयद्रथ-वध' की राष्ट्रीयता 'भारत भारती' की तरह आक्षेप और आवेश मात्र से पूर्ण नहीं। 'जयद्रथ-वध' भारतवासियों को उनके विगत वैभव का स्मरण दिलाकर उनमें वीरता और अधिकार के लिए त्याग करने के भाव को प्रेरित करने के लिए लिखा गया है। 'भारत भारती' का राष्ट्रीयभाव 'जयद्रथ-वध' में विकसित होकर कुछ विशेष विस्तृत हो गया दीख पड़ता है। यथार्थ में 'जयद्रथ-वध' पहले लिखा गया, 'भारत भारती' बाद में। स्वयं श्री मैथिली शरण गुप्त ने 'कविता के पथ पर' लेख में इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य दिया है। कविता की दृष्टि से 'जयद्रथ वध' लिखकर 'भारत-भारती' लिखना भले ही आगे बढ़कर पीछे लौटना कहा जाय, मुझे इसके लिए कभी पछताना नहीं पड़ा।' वस्तुतः विकास-दृष्टि से 'भारत-भारती' के बाद ही 'जयद्रथ-वध' आना चाहिए था। 'जयद्रथ-वध' में 'न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है'—इसी कारण यह युद्ध हुआ, महाभारत धर्म अधिकारों के लिए अपने भाइयों तक से युद्ध करने को सन्नद्ध हो, इसमें केवल भारत की भव्यता की दुहाई नहीं वरन् कुछ सार्वजनिक सत्यों का समावेश है: इन सार्वजनिक

सत्यो का समावेश हुआ है वस्तुतः भारतवासियो को चेताने ही के लिए। उन्होने कहा भी है:—

"वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी-जीवन कहो।
फिर पूर्वजों के चरित की शिक्षा तरंगों में बहो॥"

दृष्टिकोण मे यह परिवर्तन स्वाभाविक ही था, क्योंकि सन् १६१६ मे उठने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन विस्फोट की तरह केवल धड़ाका करने वाला ही नहीं रहा था, वह धीरे धीरे जनता के रक्त में व्याप्त होने लगा था और उसमे गम्भीरता आगई थी। 'जयद्रथ-वध' से भी अधिक गम्भीर और विशेप माननीय सार्वभौम गुणो को गर्भित किए हुए 'अनघ' का अवतार हुआ। 'जयद्रथ-वध' मे खण्ड काव्य लिखने की जो प्रवृत्ति ओज के साथ प्रस्फुटित हुई थी वह 'अनघ' मे शान्ति की विभूति के साथ चारित्रिक बल की शिक्षा देने के लिए उद्भूत हुई। 'जयद्रथ वध' का आवेश तो विलुप्त हो गया, पर दृढ़ता और ओज की मात्रा बनी ही रही। स्पष्ट ही विषयान्तर के साथ 'अनघ' में दृष्ट्यान्तर भी है। 'जयद्रथ-वध' में राष्ट्रीयता से कुछ न कुछ लगाव अवश्य था, पर 'अनघ' मे वह लगाव न रहा; केवल दूर को एक प्रेरणा मात्र रह गयी। उनके काव्य में मिल्टन (Milton) की-सी कुछ झलक और दार्शनिकता आने लगी, यद्यपि शब्दाडम्बर अंग्रेजी कवि का-सा न था। 'अनघ' की सब से पहली पंक्तियाँ ही इस दार्शनिकता की ओर संकेत करती है। अपना परिचय देते हुए अनघ व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध को किस सरलता और गम्भीरता के साथ इन साधारण शब्दो मे रखता है—

"अखिल विश्व का कोना है,
मेरा जहाँ बिछौना है।"

Comus मे क्या इसी प्रकार आरम्भ नहीं होता:—

"Before the starry threshold of Joue's court
My mansion is, where those immortal shapes
of bright aerial spirits live inspired"

जैसे Comus एक Mask है इसी प्रकार "अनघ" भी एक गीति नाट्य-काव्य है। जिस प्रकार से नैतिक सिद्धान्तों की विजय मिल्टन ने दिखलाई है उसी प्रकार "अनघ" में मैथिलीशरण ने 'शील' की विजय उद्घोषित की है। "जयद्रथ-वध" का विषय महाभारत से लिया गया था। महाकाव्य होते हु भी महाभारत विशेष रूपेण भारत ही की वस्तु है। भारतीय आचार और व्यवहार की छाया उसमें है; परन्तु बौद्ध धर्म की उदार छाया में जिन चरित्रों का विकास हुआ, उनमें विश्वविभूतियों का प्रकाश दिखाई पड़ता है। बौद्धमतावलम्बी, रूप और आकार में भारतीय होने पर भी, इस प्रकार के सभी बन्धनों से शून्य थे। इसके अनुरूप ही "अनघ" में हमें वह रूप दिखलाई पड़ता है जिसका स्वरूप पूर्व के अन्य काव्यों के समान संकुचित तथा एकदेशीय नहीं वरन् सार्वभौम है। ऐसा विदित होता है कि जिस काल में 'अनघ' का प्रणयन हो रहा था, मैथिलीशरणजी पर बँगला का कुछ प्रभाव पड़ा और रवीन्द्र तथा मधुसूदनदत्त जैसे कवियों के विश्व-चरणशील विचारों ने गुप्तजी के भावों को भी उदार कर दिया। परन्तु इस उत्कर्ष के होते हुए भी कवि अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सका। जिस समय "अनघ" की रचना हुई उस समय तक भारत के राष्ट्र-सूत्रधार महात्मा गांधीजी के सिद्धान्तों की एक प्रकार की विजय-सी हो चुकी थी। सत्याग्रह के मान्य सिद्धान्तों के साथ-साथ दलितों की ओर भी दृष्टि उस समय जाने लगी थी। इसकी गहरी छाप से गुप्तजी बच न सके। "अनघ" के रूप में उन्होंने महात्मा गान्धी का ही एक बौना चित्र (Miniature Picture) उपस्थित किया है। इस रूप में

"अनघ" मे भी प्रेरणा राष्ट्रीय ही है, परन्तु उनका लक्ष्य केवल भारतीय भावनाएँ मात्र नहीं; अब उनका लक्ष्य मनुजता होगया है। "अनघ" के आरम्भ में भी आदर्श वाक्य की तरह जो छन्द रखा गया है, वह भावो की विशदता को स्पष्ट सिद्ध करता है:—

"न तन सेवा न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥"

यहाँ हमें कवि की दृष्टि में स्पष्ट विकास दिखाई पड़ता है। अन्तिम सीढ़ी मे जाकर कवि में कुछ दार्शनिकता और तार्किक उक्तिमत्ता का प्रवाह अधिक दिखाइ पड़ता है। समय की धारा के अनुकूल यह अनिवार्य ही था कि आन्दोलन मे प्रयुक्त सत्य, सुन्दर तथा शिव सिद्धान्तो की पुष्टि मे कवि पूर्ण मनोगति से कार्य ले। ऐसी स्थिति में काव्य का प्रकाश कम मिलता है।

'अनघ' इसी लिए सुन्दर काव्य-ग्रन्थ नहीं। इसके आगे की रचनाओ में हमें कवि में काव्यात्मा की जाग्रति दिखाई पडने लगती है।

"पञ्चवटी" मे आकर यद्यपि कवि ने दार्शनिक तार्किकता (Didecticism) का कुछ पुट रक्खा अवश्य है, परन्तु यह स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ इस दार्शनिकता को काव्य-प्रेरणा से कुछ संघर्ष भी करना पड़ा है। यहाँ कवि को किसी सामयिक प्रगति को अपनाने की आवश्यकता नही। 'पञ्चवटी' पर आकर ही उसने जैसे विचार किया, 'आओ, अब कविता लिखें' युग-युग की। युग-वाणी छोड़ें। 'पञ्चवटी' कई दृष्टियों से कवि के काव्य-इतिहास का विभाजक स्थल है। 'युग-वाणी' से 'युग-युग की वाणी' की ओर तो वह चला ही, उसमें 'भक्ति' का अंकुर यहा से पुष्ट होना आरम्भ हुआ। अब तक का उसका काव्य भारत की महानता के प्रत्येक वैभव के लिए श्रद्धानत था—भारत के उत्कर्ष पूर्ण आदर्शों को महाभारत, बौद्ध-साहित्य, सिख-इतिहास, राजपूत-क्षेत्र

से छाँट-छाँटकर उसने उनकी व्याख्या की थी। अपनी श्रद्धाञ्जलि उसी महती महनीयता को चढ़ाई थी। पञ्चवटी मे 'भक्ति' का एक सहज भाव झाँकता दीख रहा है। साथ ही एक बात यह और विदित होती है कि कवि अपनी रचनाओं के द्वारा अपनी सहृदयता का परिचय स्पष्ट रूपेण देना चाहता है, और इसी लिए उसने 'पञ्चवटी' मे उस दृष्टि का आश्रय लिया है जो तुलसी जैसे महाकाव्यकार मे भी नहीं।

वाल्मीकि, तुलसी आदि पूर्व के महाकाव्यकारों ने लक्ष्मण को एक कठोर सेवक के रूप में हमारे सामने रक्खा है उसका मानव रूप नहीं। आदर्शवादी मानव-हृदय मे जो मृदुता और मनोहरता होती है और उसमें भी जो एक स्पर्शी क्रन्दन हुआ करता है, उसकी ओर, लक्ष्मण का चरित्र-चित्रण करते समय कितनों ने ध्यान दिया ? पूर्व के महाकाव्यकारों के लक्ष्मण एक यन्त्र की भाति अपना कर्तव्य करते हुए दिखाई पडते हैं; बहुत हुआ तो कभी एकाध बात तीव्र क्रोध में कह बैठे और बस। इससे लक्ष्मण की दिव्यता मे कोई उत्कर्ष नहीं दिखलाई पड़ता वरन् क्षोभ की ही मात्रा आ जाती है। भक्ति के वातावरण मे कुछ उदार भावों के साथ पलने वाले गुप्तजी के सामने लक्ष्मण का करुण चित्र आया। राम की इतनी प्रशसा की गई, उनके आदर्श की ऐसी भारी घोषणा की गई, परन्तु लक्ष्मण का वह भोला, विनम्र और अकारण उत्सर्ग इतनी अवहेलना के साथ देखा गया। इसी लिए गुप्तजी ने 'पञ्चवटी' का निर्माण किया। जिस कुटुम्ब का चित्र—सुखी और मधुर चित्र—'पञ्चवटी' मे गुप्तजी ने रक्खा है, वह राम, लक्ष्मण एवं सीता के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं, यह तो दूसरी बात है, परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि 'पञ्चवटी' मे लक्ष्मणजी बोल उठे है। 'पञ्चवटी' मे हमे उनके हृदय की गति विधि का पता लगने लगा है। इस प्रकार 'पञ्चवटी' मे हमें कवि

महाकाव्यकारों की भूल का परिहार करता विदित होता है।

एक और नई बात 'पञ्चवटी' के दृष्टिकोण में दिखाई पड़ती है। इस नई बात का प्रस्फुटन सम्भवतः माईकेल मधुसूदनदत्त के उन्मुक्त कल्पनाशील काव्य 'मेघनाद वध' के कारण हुआ। इससे पहले तक कवि को जो ढाँचा मिला उसकी तीलियों में उसने कहीं उलट-फेर नहीं किया। केवल बीच के स्थानों में रँग भरने में ही उसने अपनी विधायक कल्पना का प्रयोग किया, परन्तु 'पञ्चवटी' में उसने प्रचलित कथानक को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया, वरन् अपनी कला की रक्षा के लिए जैसे अन्य महाकवियों ने कथानक में सुधार कर लेना आवश्यक समझा है—जिसका परिचय हमे शेक्सपीयर के अनेक नाटकों, भवभूति के 'उत्तर राम-चरित', माईकेल के 'मेघनाद वध' आदि में मिलता है—उसी प्रकार कथानक के अन्दर कुछ सुधार गुप्तजी ने भी कर लिया है। कवि ने अपने अधिकार का उचित ही प्रयोग किया है, और उस परिवर्तन के द्वारा सत् और असत् के संघर्ष का एक सुन्दर मूर्तिमान रूपक-सा खड़ा कर दिया है। अन्य कवियों ने "पंचवटी" में शूर्पणखा की प्रणय-याचना के काण्ड का अभिनिवेश दिनही में और राम, सीता तथा लक्ष्मण तीनों की उपस्थिति में कराया है। केवल राम, सीता में और लक्ष्मण में शीलता वश कुछ स्थलान्तर कर दिया है। परन्तु तमस मूर्ति शूर्पणखा को दिवाचरी चित्रित करना एक प्रकार से उल्टी गङ्गा बहाना ही कहा जायगा। मैथिलीशरणजी ने उसके हृदय और गति दोनों ही की निशाचरी सञ्ज्ञा सिद्ध कर दी है। उसका हृदय भी अंधकार में जा रहा था और वह स्वतः अंधकार में लक्ष्मण से मिलने आई थी। फिर जिस प्रस्ताव के लिए आई थी वह दिन में उपयुक्त भी कब था। जिस प्रकार असत् पर सत् विजयी होता है। उसी प्रकार लक्ष्मण की सत् दृढ़ता के साथ

निशाचरी की असत् धारणाएँ पतित होती हुईं दिवस के उदय के साथ निशा के नाश की भूमिका की तरह थीं। "पंचवटी" का वह दृश्य जिन विमिश्र भावनाओं का सुन्दर, सरल और विस्मय-कर चित्र है उनका विश्लेषण सहज नहीं।

"इसी समय पौ फटी पूर्व में
पलटा प्रकृति पटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामाम्बर
फटा दिवा के दम के संग॥
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोलकर,
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी॥"

"पंचवटी" के साथ हमें कवि में एक नया विकास दिखाई पड़ता है। इससे पहले कवि के लिए प्रकृति इतनी आकर्षक नहीं थी। संघर्षपूर्ण वातावरण में विशेष उलझा होने के कारण इससे पूर्व कवि एकान्त प्रकृति के जीवन को आँख भर कर नहीं देख सका था। "अनघ" के साथ उसके चित्त में इन सांसारिक संघर्षों के प्रति उतनी रुचि न रह गई, और संभवतः इसी कारण प्रकृति और आत्मा के स्वाभाविक सौन्दर्य की ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगा। छायावाद की भी कुछ झलक ग्रहण कर सकने का यही रहस्य हो सकता है।

'पंचवटी' में काव्य का आरम्भ ही प्रकृति के मनोरम वर्णन से होता है। यह वर्णन जिस स्निग्धता एवं सरलता के विस्मय-सम्पन्न रस में डूबा हुआ है, उसका वही रूप प्रायः सारे काव्य में सहज रूप से मिलता है। पुराने आचार्यों ने इसी को प्रसाद गुण कहा है। सिद्धहस्त कवियों में ही हृदयस्पर्शी प्रसाद पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। स्पष्ट ही इस गुण का प्राचुर्य

मैथिलीशरणजी की रचना मे प्रतिभा का उदात्त विकास बतलाता है। हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' के आरम्भ की जिन कतिपय पंक्तियों की प्रशंसा कुछ साल पूर्व बड़े बडे समालोचना शास्त्रज्ञों ने इसलिए की थी कि उसमे परिपाटी मुक्त तथा आडम्बर-शून्य रस का सहज अह्लादकारी स्रोत प्रवाहित है, यदि उन पंक्तियों के समक्ष "पचवटी" के आरम्भ की पंक्तियाँ रख दी जायं तो यह समझा जा सकेगा कि नैसर्गिक,सरल तथा आह्लादक प्रसाद किसे कहते हैं। पंचवटी का आरम्भ रात्रि वर्णन से होता है।

रात्रि वर्णन—

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चादनी बिछी हुई है, अवनि और अंबर तल में॥
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से।
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥"

(पञ्चवटी)

प्रकृति ने कवि के लिए एक चित्रपटी ही बनाई है। जहाँ पर भी प्रकृति का वर्णन किया गया है वहाँ मानव-मनोरंजन की स्थली के रूप मे ही ग्रहण किया है। जहाँ कहीं अन्यथा चित्रण किया गया है वह एक शैली की वस्तु प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए हम "पंचवटी" ही के १६ वे और १७ वे छन्दों को देख सकते हैं। प्रकृति का जो रूप मैथिलीशरणजी ने "पंचवटी" मे उपस्थित किया है वह घरेलू ममता से परिपूर्ण है। "पंचवटी" में उदार भावनाओं का समावेश होने के कारण प्रकृति और पुरुष दोनों ही मे एक सहानुभूतिपूर्ण सौजन्य पाया जाता है।

गुप्तजी की प्रकृति पर यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसमें एक सहज द्रवणशीलता प्रतिबिंबित मिलती है। मनुष्य के हृदय का द्रवणशील तत्व इसीलिए उसके साथ सम-

गति से चल सकता है, और तभी सम सहानुभुति का उदय होता है। यह केवल सीता की ही उदारता नहीं कि वह पशुओं को भोजन देती है, वरन् पशुओं की भी यह सहज उदारता है कि वे सीता के हाथ से भोजन ग्रहण करने में शंका नहीं करते। यद्यपि लक्ष्मणजी के इन शब्दों से प्रकृति की द्रवणशीलता का श्रेय मुख्यत. राम-राज्य को मिलता प्रतीत होता है जब वे कहते हैं:—

जो हो जहाँ आर्य रहते हैं
वहा राज्य वे करते हैं।
उनके शासन में वनचारी
सब स्वच्छन्द विहरते हैं॥" (पंचवटी)

परन्तु स्वच्छन्दता के कारण पशुओं का स्वभाव ही उदार हो जाता है। उसका श्रेय राम के शासन को नही रहता। उनका शासन तो उन्हें स्वच्छन्दता से भर देता है उनके स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं डालता।

'पंचवटी' पर आकर हमें दृष्टि कोण मे एक और अन्तर प्रतीत होता है। अब तक कवि की दृष्टि आदर्श को आदर्श बनाने की ओर रही। पिछले काव्यों के ऊपर दृष्टि डालने पर अभिमन्यु, अर्जुन और अनघ के चरित्रों में मानवोपरि गुणों का आग्रह दिखाई पड़ता है। इसे 'पंचवटी' में आकर सुधार दिया गया है। राम लक्ष्मण और सीता के चरित्रों में अन्तरोल्लास तो मानवोपरि दिखाई पड़ता है, और इसका कारण यह कहा जा सकता है कि उनके चित्त निष्कलुप और शुद्ध बालकों के समान भोले हैं, परन्तु साथ ही उनकी बातों में वे साधारणताएं भी मिलती है जिनमें मानव समाज मानव बना हुआ है। आदर्श और यथार्थ के संघर्ष ने स्वभावतः कवि के हृदय में यह नम्रता उत्पन्न करदी है। आदर्श को यथार्थ बनाने के लिए उन्होंने

जहाँ अन्तरोल्लास मे शुद्ध सात्विकता रक्खी है, वहाँ व्यवहार में धरातल की बातों को भी स्थान दिया है। इसी कारण 'पंचवटी' में राम, सीता और लक्ष्मण की बातों में हमें साधारण कोटि के मनुष्यों की-सी बातों का आभास मिलने लगता है। यही बात आगे के काव्य 'साकेत' में भी देखी जा सकती है। लक्ष्मण और उर्मिला का हास-परिहास इसका उदाहरण है, जिसके आधार पर कुछ लोगो ने गुप्तजी पर देश काल-व्यवहार की उपेक्षा करने का दोषारोपण किया है।

इस प्रकार 'पंचवटी' से ही गुप्तजी की शैली, भाव और भाषा सभी मे परिमार्जन प्रारम्भ होता है। यहाँ आकर कवि के दृष्टिकोण में प्रसाद, प्रकृति-प्रियता, सरल स्वाभाविकता और भोली अन्तरोल्लासिता ही नहीं मिलती वरन् लक्ष्य में एक अन्तर यह भी प्रतीत होता है कि 'अनघ' तक जिन राष्ट्रीय सिद्धान्तों का कुछ न कुछ प्रवेश हो ही जाता था वह इसमे किञ्चिन्मात्र भी नही मिलते। यहां पर आकर कवि ने सम्भवतः यह भली भाँति समझ लिया कि किन्ही अस्थायी परिस्थितियों मे पड़ कर तत्सम्बन्धी साहित्य काव्य को अमरता नहीं दे सकता। इसीलिए 'पंचवटी' मे 'अनघ' के बराबर भी राष्ट्रीयता का पुट नहीं मिलता; केवल 'काव्य' और 'मानव-जीवन' यह दो बातें ही कवि के समक्ष इस रचना के समय रही प्रतीत होती हैं।

इस समय छायावादियों की रचना और पूर्व के प्रभाव से एक और आन्दोलन हिन्दी में उठ खड़ा हुआ। प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि आखिर कविता का उद्देश्य क्या है। एक मत यह था कि कविता धर्म की पुष्टि एवं प्रचार, नीत्युपदेश' विज्ञान की ज्ञान गुत्थियो के परिचय, राष्ट्रीय भावो के प्रसार अथवा इसी प्रकार के अन्य उपयोगो के लिए अवतरित होती है।

नई प्रणाली का कहना था कि काव्य कला है और कला का जन्म केवल कला ही के लिए है, वह किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं है। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त इस पिछले मत को नहीं मानते और "साकेत" जैसे महाकाव्य मे भी उन्होंने अवसर निकाल कर इस सिद्धान्त का विरोध किया* और "हिन्दू" जैसे संस्कृति के गौरव गान से संयुक्त ग्रन्थ की भूमिका मे भी उन्होंने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे पर्याप्त मात्रा मे लिखा;† फिर भी समय का प्रभाव पडता अवश्य है। इसी कारण 'पञ्चवटी' में हमें कहीं भी 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध' और 'अनघ' जैसी प्रतिज्ञा नहीं मिलती। 'पञ्चवटी' के पूर्वाभास में जो तीन छन्द कवि ने अङ्कित किए हैं उनमें कोई उपदेशात्मक तत्व नहीं मिलता। उसमें कला की पहली मुसकान-सी अपने रूप मे खिली मिलती है और उस मुसकान मे हम प्रेम और कर्तव्य का अन्तर ध्वनित-सा देख लेते हैं।

---

* कहा माण्डवी ने—"उलूक भी लगता है चित्रस्थ भला,
सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला।"
—सा० एकादश सर्ग, पृ० ३७८

यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है।
जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है॥
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती हैं कला ही यह यहाँ,
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।—सा० प्रथम स०

† 'हिन्दू' की भूमिका पृष्ठ ११ तथा ३०।

एक रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'पञ्चवटी' मे कवि की प्रतिभा का विकास चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ था। इस काल की 'बक संहार', 'वन वैभव', 'सैरन्ध्री' जैसी अन्य रचनाओ में यद्यपि 'पञ्चवटी' को-सी कला नही, पर अन्तरोल्लास वैसा ही विशुद्ध दिखाई पडता है। इसके आगे कवि खण्डकाव्यो की रचना छोड़ कर एक दूसरे मार्ग की ओर कदम बढ़ाता दिखाई पड़ता है। उसकी दृष्टि मे यहाँ आकर और भी विकास होता है। उसे अपने जीवन की टेक 'राम-भक्ति' का पता चल गया। अब वह छोटे खिलौने से नहीं खेलेगा। उसका कथानक क्षेत्र और कल्पना-पट यहाँ विस्तृत होते-होते महान् हो गया है अतः इस समय तक आधुनिक हिन्दी मे महाकाव्यों का अभाव था। हरिऔधजी का 'प्रिय-प्रवास' ही खण्ड-काव्य के आकाश मे महाकाव्यत्व की पूर्ति का कुछ बहाना किये हुए था। खण्ड-काव्य अब तक अनेको लिखे जा चुके थे। स्वयं गुप्तजी भी कतिपय खण्ड-काव्य लिख चुके थे। कहानी से उपन्यास की चाह की राह बनती है। खण्ड-काव्य से महाकाव्य की। अतः कवि ने महाकाव्य लिखा। 'साकेत' उसका नाम हुआ। कवि ने निवेदन मे लिखा है—

"इच्छा थी कि सब के अन्त में, अपने सहृदय पाठको और साहित्यिक बन्धुओ के सम्मुख 'साकेत' समुपस्थित करके अपनी धृष्टता और चपलताओ के लिए क्षमायाचना पूर्वक विदा लूँगा।"—तो कवि ने चाहा था कि यह उनके जीवन की अन्तिम रचना हो। पर यह अच्छा ही हुआ कि यह अन्तिम रचना न हो सकी। १६८८ मे 'साकेत' प्रकाशित हुआ। हिन्दी मे यह एक नयी चीज थी—विषय की दृष्टि से ही नहीं—'महाकाव्य' होने के नाते। पर इस 'महाकाव्य' में कवि ने राम कहानी के साथ अपनी 'काव्य कहानी' लिखी है। 'पञ्चवटी' मे जो राम-

सामयिकता से हट कर कवि काव्य के लिए तत्पर हुआ उसका और भी अधिक हृद्गत रूप 'साकेत' में प्रकट हुआ। यहाँ जाकर कवि ने अपने विषय में और भी नयी दृष्टि का समावेश किया। 'साकेत' में कवि ने सचमुच अपनी सम्पूर्ण काव्य-समृद्धि सजा देने की चेष्टा की है। और इसमें भी वह 'परहितकातर' अवश्य है। 'पञ्चवटी' में उसने 'लक्ष्मण' को तो सवाक् कर दिया है—उर्मिला का क्या हो ? उर्मिला के प्रति जो सहानुभूति तीव्र हुई उसीकी व्यग्रता विविध रूप में काव्य बन कर 'साकेत' में परिणत हो गई। वह महाकाव्य लिखता है। आगे चल कर 'यशोधरा' काव्य का निर्माण किया और आगे लिखा हुआ खण्ड काव्य 'सिद्धराज' कवि की इस बदली हुई तथा विकसित प्रवृत्ति का अपवाद नहीं होता। यद्यपि काल-क्रम के अनुसार 'सिद्धराज' गुप्तजी की नवीनतम कृतियों में है और वह खण्ड काव्य है, परन्तु यह ग्रन्थ, जैसा स्वयं कवि ने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है, बहुत पहले ही प्रारम्भ कर दिया गया था और कारणवश अधूरा ही पड़ा रहा था, अतः इस कृति को भी खण्ड काव्य-काल की रचना ही कहना उपयुक्त है। समाप्ति इस समय होने से कवि-प्रतिभा का विकसित रूप भी 'सिद्धराज' में है। आदर्श और वास्तविकता का सुन्दर मेल इसमें किया गया है। आदर्श व्यक्ति के हृदय में भी दुर्बलता किस प्रकार छिपी रहती है और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अपना विस्तार करती हैं, यही सब 'सिद्धराज' में दिखाया गया है। सिद्धराज में मध्य-कालीन वीरों की एक कथा है। उसमें जहाँ क्षत्रिय शौर्य का प्रदर्शन है वहाँ अन्त में उसके पतन की मीमांसा भी है—

'किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे हैं हम आपस में जूझ के।

स्वप्न देखते हैं आप एक नर-राज्य का,
एक देव के भी यहां सौ-सौ भाग हो चुके!

× × × ×

चरम-विकास जहाँ किन्तु वहीं ह्रास भी।
सह्य नहीं अपनों की बाध्यता हमें, भले,
सन्तति हमारी करे दूसरों की दासता?

× × × ×

देश है विशाल, दूर दूर एक लोक-सा,
भार एक क्षत्रियों को, ईर्षा-द्वेष उनमें।

... .

दूसरी दिशा में उदासीन हम हो रहे,
कोई क्यों न ले ले राज्य, छोड़ दिया राजा ने!'
जागता है ज्ञान-मंत्र बहुधा श्मशान में

× × × ×

धार्मिक विरोध हमें दुर्बल बना रहे,
यवन बसे हैं यहाँ आकर कहीं कहीं,
उनको हमारा धर्म रहने दे, वे उसे
रहने न देंगे सह-धर्मियों के पक्ष में।
ऊँचे हम अब भी, परन्तु नीच मानना
औरों को हमारा, हमें नीचा दिखलायगा।

इस प्रकार कवि ने भारत की दुर्बलता अंकित करते हुए भारतीय आर्यराष्ट्र की कल्पना की है।

वैसे विषय-निर्वाचन, समय आदि के अनुसार 'सिद्धराज' खण्डकाव्य-काल की कृति ही समझनी चाहिए।

'साकेत' सुन्दर महाकाव्य है। यह खड़ी बोली का पहला शृङ्गार है। कवि अपनी अवस्था को भारतीय मति के अनुसार अधिकाधिक जगत्-जंजाल से विरक्त होकर इष्टाराधन की ओर

अग्रसर हो रहा है। यद्यपि अपने कवि-कुल के लांछन* को परि ष्कृत करने के निमित्त ही उर्मिला की सृष्टि की प्रेरणा इस महा-काव्य में प्रारम्भ से ही है, और प्रबल है।

'साकेत' की जोड़ी बनकर 'यशोधरा' आई। 'भगवान बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायें तो बहुत समझना। और उसका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिलादेवी को ही है, जिन्होंने कृपा पूर्वक कपिल वस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है। इन सब में उपेक्षणीय नारी की पुनः प्रतिष्ठा है अवश्य, फिर भी साकेत में कवि का हृदय वैष्णव भक्ति से ओतप्रोत-सा है। उसने राम को 'मानव'-सा चित्रित करने का उद्योग किया है, पर उसकी यह धारणा, द्विविधा की भांति महा-काव्य के मुखपृष्ठ पर अंकित है कि.—

'राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?'

उसे राम को मानवोपरि क्षेत्र से सम्बन्धित दिखाने के लिए प्रेरित करती प्रतीत होती है। तभी उनके राम कहने लगते हैं:—

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को, ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

---

* गुप्तजी पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अपने गुरु के समान मानते हैं। इन्हीं द्विवेदीजी ने एक लेख लिखकर कवियों की इसलिये भर्त्सना की थी कि उन्होंने उर्मिला के सम्बन्ध में उदासीनता से काम लिया। गुप्तजी को गुरुजी की यह बात चुभ गई। अतः कवियों के दोष का परिहार उनके उत्तराधिकारी के समान गुप्तजी ने इसमें किया है।

अथवा आकर्षण पुण्य-भूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं आप उच्च-फल जैसा।
जो नाममात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे॥"

उर्मिला की अवहेलना का संशोधन कारण बना, पर अवस्था की मनोवृत्ति उसमे प्रतिफलित हुई। यह भी नितान्त स्वाभाविक है कि उर्मिला के कारण गुप्तजी ने अधिकाधिक रामचरित्र का मनन किया; तुलसी का पारायण किया, जिसका फल यह हुआ कि तुलसी को भाँति राम उनके अनन्य हो गये। जैसे यह दोहा तुलसी की अनन्यता के परिचय के लिए विख्यात है कि—

कहा कहौं छबि आजु की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुषवान लो हाथ॥

क्या "द्वापर" मे कुछ वैसी ही मनःविज्ञप्ति गुप्तजो नहीं दे रहे :—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग॥

अतः यह भक्ति अब अन्य भावों की अपेक्षा अपना गहरा रंग प्रकट करती प्रतीत होती है। यो तो कवि कवि ही है—सब कुछ होते हुए भी वह कवि है—फिर आधुनिक काल में जब यह युग सूर और तुलसी के युग की भाँति भक्ति-युग नहीं—कवि जीवन की गति से आँखें नहीं चुरा सकता। 'साकेत', 'यशोधरा', 'सिद्धराज' और 'द्वापर' मे जीवन-निरीक्षण और जीवन-विचार की मात्रा, पूर्व के अन्य काव्यों की अपेक्षा, अधिक है। व्यक्तियो के मस्तिष्क का अध्ययन साधारण प्रकार से साकेत में उर्मिला और कैकेयी के स्वकथनो में मिलता है, उससे कुछ अधिक यशोधरा में, और द्वापर में तो कवि ने घटना और कथानक का आश्रय एक दम छोड़ ही दिया है। व्यक्ति का जगत्-

संघर्ष उसमें किञ्चित् भी नहीं। अलग अलग व्यक्ति आकर अपने मनोजगत् के व्यापारों को हमारे सामने रखते हैं। इसमें कवि के द्वारा भिन्न-भिन्न चरित्रों के आदर्श अपनी उत्तम दार्शनिकता और युक्तिमत्ता को प्रदर्शित करते हुए उपस्थित होते हैं। यह एक नई ही प्रणाली है, जिसको जन्म देने का श्रेय गुप्तजी को मिलेगा।

व्यक्ति के ऐसे व्यष्टि-चित्रों का बीज पञ्चवटी में आरोपित हुआ। रात्रि में लक्ष्मण का एकान्त लम्बा मनस्चिन्तन, पञ्चवटी की कथा से अलग, अपने नवाकर्षण से पृथक् महत्त्व की वस्तु बनता दीखता है। इसीका निखरा रूप द्वापर में उपस्थित हुआ है।

कवि अपने काव्य जीवन में पहले प्रोज्ज्वल रङ्ग-विरङ्गी शाद्वलों में होकर चला। घटनाओं का घटाटोप था, भूमि का आकर्षण था। वह बढ़ता चला और चढ़ता चला। नई-नई भूमिकाओं में होकर वह ऊपर उठा। क्षेत्र का विस्तार नहीं रहा पर ऊँचाई और होगई। "जयद्रथ वध" कृष्ण-जीवन का पहला अर्थ हुआ, 'द्वापर' अन्तिम; 'अनघ' बौद्ध जीवन की प्रथम रश्मि हुई और 'यशोधरा' अन्तिम। राम-जीवन मध्य की ही वस्तु बना रहा। 'भारत भारती' जैसी वस्तु वस्तुरूप में तो न आ सकी किन्तु रस-रूप में कवि को रग रग में व्याप्त होगई। वे स्फुट रचनाओं से खण्ड काव्य की ओर बढ़े, महाकाव्य तक पहुँचे, फिर महाकाव्य को स्फुटों में 'द्वापर' द्वारा चित्रित कर दिया।

काल-कला के रूप में 'झङ्कार' की सृष्टि हुई; वाद के प्रतिवाद में 'हिन्दू' बना। ऐसे ही कुछ अन्य काव्यों को हम कवि-जीवन के राजमार्ग की क्षुद्र पगडण्डियाँ समझते हैं।

युगों में कवि ने त्रेता और द्वापर को ही अपना विशेष विषय

बनाया। द्वापर और कलि की सन्धि से चल कर वह त्रेता तक गया और फिर कलि मे लौट आया। कवि की पूर्व मनसा के कारण सतयुग तक उसका जाना कठिन था। उसमें भक्ति का अंकुर आरम्भ ही से था। वैदिक सत्व को भक्ति उतने उत्साह से नहीं देख सकती। भक्ति की धारणाएँ 'भक्ति-पोपक' महान् ग्रन्थों द्वारा 'यज्ञ' और 'ज्ञान' यहाँ तक कि चारों पुरुषार्थों के प्रतिकूल हो जाती है। त्रेता से ऊपर का युग इन्हीका युग था। कवि वहाँ किस हृदय से जाता? पर जब कवि को अपने वयोधिक होने पर मानस में परिवर्त्तन विदित हुआ और मानव के पतन का दृश्य अपने चारों ओर देखा तो 'नहुप' उसकी दृष्टि मे आ गया। अब कवि अपने काव्य-श्री दिखाने के लिए उत्सुक नही। वह जीवन की शाश्वत् समस्या को समझेगा। 'नहुप' खण्ड-काव्य के द्वारा उसने यही किया है। मानव उत्थान करके भी कैसे पतन की कहानी आरम्भ कर सकती है और पतन मे भी वह अपने उत्थान का सङ्कल्प कर सकता है—यह मानव का रूप नहुप में है। मानव ने अपने गुण-बल से स्वर्ग-राज्य पाया। वह वहाँ से अपनी छिपी दुर्बलता के कारण गिरा, पर उसका यह दर्प अ-यथार्थ नहीं, चाहे आदर्श भी हो—

"गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं।
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ के रहूँगा मैं।"

निश्चय ही पतन से बढ़ कर उत्थान का सन्देश 'नहुष' दे रहा है, मानो भारत मे सम्बोधन है 'त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतपः'।

———

गुप्तजी की पुरानी कविताएँ

[सन् १९३१ से पूर्व]

साकेत के प्रकाशन से पूर्व गुप्तजी ने जो कुछ लिखा वह भी कम नहीं पर वह सब साकेत और साकेत के बाद की रचनाओं से मूलतः एक भिन्न धरातल पर है। वह धरातल प्रधानतः चंचल है, उथला भी कहा जा सकता है। विषयों में दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए विकास दिखाया गया है जो कवि में परिस्थिति और मत के सामञ्जस्य से उत्पन्न होता चला गया है। उसमें जो प्रगति है वह बहुत सीधी सच्ची है—भारतीय राजपूती शौर्य से आकर्षित होकर कवि भारतीयता को फिर भारतीय राष्ट्रता को प्रेम करने लगता है, उससे आगे उसमें राष्ट्रता मानवता में में विलीन होने लगती है, कि इसमें धार्मिक श्रद्धा और अनुभूति झंकृत हो उठती है—और बस यहां से उसके काव्य का धरातल दूसरा हो जाता है।

भारतीय शौर्य और उसका आश्रय लेकर खड़ी हुई राष्ट्रीयता, राष्ट्रीयता नहीं, हमें यहां राष्ट्रता और राष्ट्रीयता में एक सूक्ष्म अन्तर करना पड़ेगा। कवि जब किसी राष्ट्र के मूर्त रूप को व्यक्ति, संस्था अथवा समाज के द्वारा तथा उसकी प्राकृतिक शोभा और समृद्धि के द्वारा ग्रहण करता है, तो उसमें राष्ट्रता मिलेगी। वह राष्ट्र के वर्तमान जीते जागते भावरूप को नहीं लेता, उसके अतीत के गुणान्वय प्रधान चित्रों पर वह मुग्ध होता हुआ चलता है। राष्ट्रत्व होने पर राष्ट्रीयता का सजीव अंकुर उगता है—गुप्तजी मे तत्काल

स्पन्दन तो है, पर उनमें तत्काल काव्य नहीं। सामयिक परिस्थितियों में उपस्थित प्रश्नों से वे आकर्षित होते हैं, और इससे वे काव्य-वस्तु खोजने लगते हैं, और व्यक्त करने लगते हैं, जो प्रश्न का मौलिक या ऐतिहासिक रूप वे रख देते हैं—क्यों उसमें राष्ट्रत्व का भाव है, इसका प्रधान कारण यही है कि उस काल यही एक प्रश्न था कि क्या भारत एक राष्ट्र है ? जब राजपूताने के शौर्य की कुछ झांकियां उन्हें मिलीं, जब पंजाब के गुरुकुल पर उन्होंने दृष्टि डाली, जब महाभारत के वीर चरित्र उनकी दृष्टि के सम्मुख झिल मिलाये तब वे इस आज के भारत को नहीं अतीत भारत को प्रेम करने लगे, तब उन्होंने यह भी जाना कि इस सब में एक ही 'राष्ट्र' की कल्पना देदीप्यमान हो रही है, और वे उसीको अंकित करने में में लग गये—उन्होंने राष्ट्रत्व का पोषण किया। राष्ट्रीयता, जो तत्कालिक सजीव स्पन्दन है। राष्ट्रत्व की भूमिका पर वर्तमान के भावों और वर्तमान की प्रेरणाओं से सम्बन्ध रखती है।

भारतेन्दुजी ने इस प्रवृत्ति को प्रधानता दी थी, और इसे प्रोत्साहन भी दिया था। बाबू राधाकृष्णदासजी ने भारतेन्दुजी के इस सिद्धान्त को अपनी एक भूमिका मे स्पष्ट किया था। भारत को जगाने के लिए उसकी पूर्व कीर्ति को विख्यात और जीवित करना आवश्यक है। भारत गुलामी के कारण अपने को भूले हुए है, उसमें अपनी आस्था उत्पन्न होनी चाहिए—उसे राष्ट्रत्व का बोध होना चाहिए। गुप्तजी ने उसी सन्देश को सशक्त वाणी में उपस्थित किया है। 'जयद्रथ-वध' की पहली भूमिका में संवत् १९५० में स्वयं गुप्तजी ने इस बात को माना है कि "हिन्दी में आज कल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले।"

'रंग में भंग' मे ये पंक्तियाँ हैं :—

'दुर्ग-द्वार-स्थित पुरुष जो दीखता गम्भीर है।
वीर हाड़ा-वंश का वह कुम्भ नामक वीर है॥
श्रवण कर उसका चरित मन में प्रमोद बढ़ाइये।
पूर्वजों के पूज्य भावों की लड़ाई गाइये॥
आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादू भरा।
चमक जाता चञ्चला-सी चित्त में करके त्वरा॥'

फिर 'जयद्रथ-वध' को देखिये उसके आरम्भ में हमें मिलता है :—

फिर पूर्वजों के चरित की शिक्षा-तरङ्गों में बहो।

और तब आगे भारत-भारती में वह यही विचारने बैठता है.—

'हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

और तब इसके बाद हमें जो गुप्तजी की रचनाएँ मिलती है—वे 'त्रिपथगा', 'अनघ' और 'झङ्कार' हैं।

पर कवि को दूसरे धरातल तक पहुँचते-पहुँचते इस धरातल पर जो गुण और रूप खड़े करने पड़े हैं उन्हे भी तो समझ लेना है। तो इस काव्य के धरातल पर कवि में राष्ट्रता का भाव विकसित हुआ; उस राष्ट्र के उज्ज्वल रत्न उसकी दृष्टि मे चञ्चला-प्रकाश से जगमगाने लगे—वर्त्तमान की सघन अँधियारी मे पूर्वजों के उत्सृष्ट दिव्य रूपों की झाँकी और कैसी लग सकती है ? इस सबके लिए कवि को इतिवृत्तों का सहारा लेना पड़ा। गद्य के युग में गद्य भाषा में काव्य उपस्थित करने के लिए कथा से अधिक उपयुक्त साधन नहीं। भाषा और काव्य की अपनी मधुरिमा में यदि अभाव या दुर्बलता हो तो कथा की उत्कण्ठा पाठक को विरत होने से रोके रहती है—तो यह इतिवृत्तात्मकता इस काल की रचनाओ मे बहुत रूढ़ है—यह इतिवृत्तात्मकता दो प्रकार की

है—एक वह इतिवृत्तात्मकता है जो खण्ड-काव्यों में मिलती है—जो 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'त्रिपथगा', 'अनघ' आदि में मिलती है। कथा सूत्रग्राही इतिवृत्तात्मक इनमे है। दूसरी वह इतिवृत्तात्मक है जो 'भारत-भारती' और 'हिन्दू' जैसे काव्यों में है। वर्णनात्मक विविध मूर्त रेखाचित्रों, अथवा दृष्टान्तों का गुम्फन। कथा सूत्रात्मक खण्ड-काव्यों में इस काल की रचनाओ में जयद्रथ-वध श्रेष्ठ हुआ। कथा-सूत्र के सविधान के साथ उसमे दृश्यों के चपल गतिवान सौन्दर्य का कवि-कल्पना की मनोरमता से रंगीन अभिनिवेश मिलता—पहली बार कवि अपने काव्य मे विशदता लाया और इस प्रकार की विशदता फिर आगे वह इस काल की रचनाओं मे न ला सका। जयद्रथ-वध में भारत के प्राचीन और अपूर्व शौर्य का चित्रण, बालक, स्त्री, पुरुष को नैतिक उपदेश, आस्तिकता मे अटल विश्वास और वीर, वीभत्स, करुण और रौद्र रस का संचार तथा अलङ्कारो के माधुर्य का आनन्द है।

किन्तु उस काल इस इतिवृत्तात्मक काव्य-विधान रसो और अलङ्कारो का आयोजन समुचित होते हुए भी हृद्गत है—हृदय-मात्र को छूने वाला; सेण्टीमेण्टल Sentimental होना, हृदुद्वेगशील होना काव्य का दोष नहीं, गुण ही, पर उसका यह गुण सस्ता गुण कहलाता है, सब से कच्चा गुण है। इस हृदुद्वेग के लिए पृष्ठभूमि गम्भीर बौद्धिक तत्व जब तक नही होगा उस समय तक वह सम्पूर्ण मानस को सन्तुष्ट नही कर सकेगा। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य की परिभाषा करते हुए उसमें जिस High Seriousness उच्चगाम्भीर्य की आवश्यकता बतलाई है, वह हृदुद्वेग और ऐन्द्रिकता के साथ अवश्य होनी चाहिए। गुप्तजी में यहाँ तक स्पष्ट ऐन्द्रिकता भी नहीं आ पायी—ऐन्द्रिकता (Sensuousness) के निर्मल चित्रण, अथवा सरस उल्लेख वे अब तक की किसी रचना में भी नहीं कर पाये, उस ऐन्द्रिकता का

रुद्धरूप उनके बहुत आगे के काव्य में कहीं-कहीं दीख पड़ता है। जैसे जयद्रथ-वध में वैसे ही इस काल के अन्य काव्यों में भी हृदद्वेग शील रस है, वह बौद्धिक-स्तर पर नहीं पहुँचा। 'अनघ' के बौद्ध काव्य में कवि ने जब चाहा है कि उस बौद्धिक-स्तर की ओर बढ़े तो दुर्घटना यह हो गयी है, वह प्रयोग-मात्र बन गया है, जिसमे बौद्धिकता आने पर भी वह स्तर जो बौद्धिक स्तर कहा जाता है नहीं आ पाया, हाँ हृदुद्वेग शून्य हो चला है, फलतः अनघ में गुप्तजी के काव्य की जो स्वाभाविक गति है, वह क्षुब्ध हो गयी है और, 'अनघ' उतना अच्छा काव्य ग्रन्थ नहीं रह पाया।

यहाँ तक गुप्तजी में गति और ओज—प्रवाह और शक्ति बहुत है। इस शक्ति, गति और द्रुतप्रवाह की जयद्रथ-वध और भारत-भारती में ही चरमावस्था पहुँच गयी है। उस गति ने और चञ्चलता ने खींचकर गुप्तजी की भाषा को एक Standard प्रामाण्यतल पर ला उपस्थित किया, आगे वह ओज और द्रुति कविता मे इस मात्रा में नहीं पर भाषा का सौष्ठव शिथिल हुआ नहीं मिला—आगे के काव्यों में कहीं-कहीं प्रवाहावरोध भी आ पड़ा है पर भाषा सुवर्णता मे कोई व्याघात नहीं हो पाया।

इस काल की रचनाओं में हमे प्रबन्ध में खण्ड-काव्य वर्णनात्मक शैली के वर्णन काव्य दृष्टान्त शैली के तो मिलते ही हैं—अनघ जैसे 'गीति-नाट्य' या पद्य संलाप भी मिलते हैं। तिलोत्तमा जैसा नाटक भी मिलता है।

इस काल में कवि मे पूर्वजों के शौर्य के लिए श्रद्धा, वीर-पूजा का सवेग भाव, पौराणिक पक्ष दृश्यो-यथा स्वर्ग-कल्पना, भगवान दर्शन आदि में रुचि मिलती हैं—और जैसा इन सबसे स्पष्ट है यहाँ तक के काव्य में एक प्रबल उपदेशवृत्ति मिलती है—पर उन सब में एक दो काव्यों को छोड़कर कृष्ण और उनके परिकर का

ही वृत्त प्रधान दीखता है। यों काव्य के आरम्भ में 'जानकी-जीवन' की जय भले करा दी गयी हो, पर राम रूप धारण करके हमें नहीं दीखते—इतिहास से देखें तो राम के बाद कृष्ण का अवतार है—त्रेता के बाद द्वापर। पर साहित्य के इतिहास में कृष्ण पहले और राम बाद में अवतीर्ण हुए है—सूर की कृष्णमाधुरी के पश्चात् ही राम की मर्यादा हिन्दी जगत ने जानी—जयद्रथ-वध में कृष्णदर्शन हैं, त्रिपथगा कृष्ण के मित्र पाण्डवों से सम्बन्धित हैं, झंकार में गीतों की प्रगीतिता जैसे गोपियो की भांति नटनागर के ही चरणों मे ही समर्पित हो रही है और इन सब के बीच में खड़ी है कवि की झंकार—

"स्वर न ताल केवल झंकार
किसी शून्य में करे विहार।"

यों कहने को 'झंकार' को छायावाद का व्यंग कहा जा सकता है, जो ऊपर की दो पंक्तियो से बहुत स्पष्ट हो रहा है—और यह कवि की 'झंकार' पुस्तक का मुख-पद्य है; इसे छायावाद की पैरोड़ी भी कोई कह दे, चाहे तो। छायावाद के शून्य, तंत्री, तार, वेदना आदि प्रतीकों का इसमें भी सहारा लिया गया है। युग का प्रतिनिधि कवि बनने की उमंग मे इसे कोई छायावादिनी नयी शैली का प्रयोग भी 'झंकार' को कहा जा सकता है। और यह सब कुछ होते हुए भी वस्तुतः झंकार की मूल वस्तु में ऐसा कुछ भी नहीं है। कवि में अब तक कृष्ण और राम के बीच तो संघर्ष नही रहा, उसने बौद्ध को भी निस्संकोच अपनाया है पर एक संघर्ष कवि में रहा है—भारत को वह प्रेम करने लगा है, उसमें राष्ट्रता उद्दीप्त हो उठी है—भारत का दुर्दिन उसे खल रहा है।

"सब लोग हिल-मिल कर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो,
भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो।

हा! स्वप्न तुल्य मर्द्व को सब शौर्य सहसा सो गया,
हा! हा! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया।"

इन सब भावनाओं में वह भारत के जड़ और प्रकृत रूप का उपासक नहीं बना, वीर-पूजा का भाव ही प्रधान है। वह सौन्दर्यवादी नहीं बना शौर्यवादी बना है—'मानव और पुरुष उसके काव्य का केन्द्र-स्तम्भ है। उस पुरुष का भी उसने पहले बाहुबल और समृद्धिबल देखा—उसका सम्पूर्ण काव्य यहाँ तक के 'भारत-भारती' और 'हिन्दू' भी इसी ऐश्वर्य दर्शन से पूर्ण है—पर हाँ, है वह गांधीजी के कारण ही, 'अनघ' में वह उसके नैतिक बल और उससे सम्बद्ध आत्मबल को देखने को बढ़ा—युग के संस्कार से वह आत्म-सौन्दर्य को जानने को चला, प्रगीतिता का आत्म विभोर साधन इसमें चुन लिया—और वह चीत्कार कर पड़ा। वह चीत्कार ही झंकार है। क्यों चीत्कार कर उठा वह—

"इस शरीर की सकल शिराएँ
हो तेरी तन्त्री के तार'

और जब वह तन्त्री का तार हो गया तो—

'कर प्रहार, हा, कर प्रहार, की ध्वनि हो उठी,
नाची कितने नाच न जाने
कठ पुतली-सी काया,
मिटी न तृष्णा, मिला न जीवन,
बहुतेरा मुँह बाया।

तो कवि चीत्कार कर—

अर्थ भूल कर इसीलिए अब
ध्वनि के पीछे धाया।

तो इस चीत्कार में चाहा तो है कवि ने भक्तों जैसी मनुहार करूँ, भक्तों जैसा रूप-दर्शन करूँ—संगीत की लय पर अपनी

मधुरता उंडेल दूँ। पर यह हो नहीं सका—काव्य का बौद्धिक स्तर कवि इसमें नही पा सका पर दार्शनिक प्रबुद्धता ले आया है, वह भी कुछ-कुछ। इन गीतो में स्निग्धता, सौम्यता से अभिमण्डित ही चीत्कार है—सौन्दर्यानुभूति नहीं—कवि को जब कुछ आत्मा में क्रान्ति दीखती मिलती है तो वह कांप उठता है और उस अनुभूति को रोक देता है:—

"बस-बस अरे हरे बस, आहा! तनिक ठहरजा,—हा हा!
उठा न हूक लूक मुरली की,—हो न जाय सब स्वाहा!
× × × ×
दीवट सी जल उठे न जगती, पाकर नभ का फाहा!
× × × +
सम्मुख पड़े कहीं कोकिल तो वहीं कण्ठ कट जावे,
क्या जाने इस ध्वनि-धारा में कहाँ कौन तट जावे।
कितना है यह अम्बर जिसमें स्वर-समूह अट जावे,
देख दीन ब्रह्माण्ड न घट-सा उपट कहीं फट जावे।
+ + +
झेलेगा ये कौन प्रलय की लय मे सम के झटके?
तुझे छोड़ सरपट हय सहसा रोकें कर किस भटके?
कब ऐसे कल्लोल कूल पर किस प्रवाह ने पटके।
तड़प रहे हैं प्राण शफर से इस वंशी में अटके।
भला वेदना—बड़वा—फेनिल राग-सिन्धु अवगाहा।
बस, बस, अरे, हरे, बस आहा! तनिक ठहरजा, हा हा!

ओह, कवि कितना कातर होकर 'हा हा' खा उठा है—आत्म प्रदेश में झांकते ही उसे जिस क्रान्तिमय अनुभूति का सामना करना पड़ा, उसे वह नहीं झेल सका—वह क्रान्तिकारी नहीं। क्रान्तिकारी जिसे हृदय से मांनता, उसे ही आता हुआ देखकर इस कवि ने अनुभूति का वह द्वार बन्द कर दिया। वेदना वह

नहीं चाहता, चाहता भी है तो वह मन्द वेदना जिसमें अपना दैनिक विलास चलता रहे । कितना भय है उसे इस बात का कि:—

'क्या जाने इस ध्वनि-धारा में कहाँ कौन तट आवे'

वह 'Statusquo of things' वस्तुओं की पदार्थता को सार्थक, यथा देखना चहता है। इस को जो सौंदर्य की अनुभूति अनुभूति है कवि नहीं पा सका यहाँ—तभी उसकी झंकार गीत की कड़ियों में बैठी हुई होने पर भी प्रगीतात्मक नहीं हो पायी।

इसका एक और बड़ा कारण है, यहां तक कि गुप्तजी के काव्य का पुरुषान्वित होना। वह स्त्री की उद्भावना नहीं कर सका। अनघ में जो यत्किंचित झलक खड़ी होती है, उसमें भी स्त्री-स्वस्थ-काम स्त्री नहीं। यहां तक का काव्य वस्तुतः प्रेम और सौन्दर्य की सुषमा की अभिरामता से वन्चित है—और यही इस काल के संस्कार ने कवि के लिए स्त्री को अवरुद्ध करके रख दिया है। आगे भी वह जिस पैराये पर स्त्री को उतार ने चला है बस स्त्री का स्त्री बल नहीं उसका दैन्य है,—सहानुभूति का प्रेरक —

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—
आंचल में है दूध और आँखों में पानी

झंकार में वे प्रेयसि को लाने के लिए सचेष्ट हुए हैं, पर डरते डरते और निस्संदेह उसमें वे उसे ठीक-ठीक उतार नहीं सके। इस पुरुषता ने कवि के गीतों को प्रगीतता से रोक लिया है।

इस काल की समाप्ति 'पंचवटी' के साथ होती है, और पंचवटी से ही कवि के नये धरातल की सृष्टि होने लगी है। पंचवटी में दोनों की सन्धि जैसी स्पष्ट प्रतिभासित होती। स्वस्थ होकर कवि दूसरे धरातल पर चढ़ रहा है—और उसका यह उत्कर्ष भव्य है, दिव्य है।

गुप्तजी की नयी रचनाएँ

(१६३१ से अब तक)

साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, नहुष

पञ्चवटी मे कवि श्रीकृष्ण के परिकर से हट कर राम के परिकर मे पहुँचा। पञ्चवटी मे राष्ट्रता से कवि वैष्णवता की ओर बढ़ा। प्रकट उपयोगिताप्रसाद से कला-लालित्य मे प्रच्छन्न उपयोगिता की ओर उसने कदम बढ़ाया, चरित्रो के ओज और शौर्य के प्रकम्पित धौराहरो—उनके रूप के रूढ़ चित्रो को पीछे छोड़ कर मानव-चरित्रो के प्रशान्त उपेक्षित अन्तर-तल के प्रकाश-स्तूप को अपनाने चला; रण-भूमि मे झनझनाते हुए वातावरण से ऊब कर वह गृह-सुषमा की हास्य-विलसित अभिरामता की ओर आकर्षित हुआ—स्त्रियो ने, इस प्रौढ़ावस्था मे पञ्चवटी के द्वारा, अपने लिए कवि को अपनी ओर खीचा। जिस समस्या-विरहित गुरुत्व के पीठ पर बैठ कर उसने अब तक महाभारत पुराण और बौद्ध-पुस्तको तथा राजपूत के इतिहास की कथाये सुनायी थी, भावोत्तेजना दी थी, चारणो की भाँति साका गाया था, वह कवि को अग्राह्य हो उठा। पुरुष के रूढ़ पुरुषत्व की हुँकार की मात्रा सम्भवतः अधिक हो गयी और पञ्चवटी से उसका परिष्कार आरम्भ हो गया—समस्या भी, सैक्स भी, कवि के सामने खडी हुई और उसकी कला अब स्त्री-भाव से अभि-मण्डित होने लगी।"'जिस समय प्राचीन कवियों पर विचार करते हुए यह ध्यान आलोचको को हुआ कि वीर-पूजा के पोषक कवियों ने अनुचित रूप से कुछ स्त्रियो की उपेक्षा कर दी है—तो

इस कवि को लगा कि यदि कुछ की उपेक्षा के कारण वाल्मीकि और तुलसी का काव्य लांच्छित हो रहा है, तो मैंने स्त्रीवर्ग मात्र की अवहेलना करदी है, वह स्त्रियों की ओर धीरे-धीरे बढ़ा। पञ्चवटी में सीता आई हास-विलासमयी होकर, साकेत में उर्मिला से आरम्भ होकर कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, श्रुतिकीर्ति, माण्डवी तक सजीव हो उठीं, पर पञ्चवटी में लक्ष्मण के चरित्र के प्रकाश में सीता का हास्य धुँधला हो रहा है, केवल स्त्री अंकुर रूप में है, साकेत में पुरुष के कर्तृत्व और पुरुषत्व का ध्यान नहीं हो पाया, वह स्त्री-प्रधान हो उठा है, यशोधरा में तो पुरुष नितान्त पंगु हो गया है स्त्री ही प्रधान है। द्वापर में फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई है। कवि पुरुष-भाव और स्त्री-भाव में समन्वय ढूँढ़ना चाहता है—पर नहुष में स्त्री-प्रबलता ने जब उसे दीन बना कर धर दबोचा है तब वह प्रतिक्रिया में—घोर प्रतिक्रिया मे तड़प उठा है, अपने हतशौर्य के लिए—नहुष में इन्द्राणी का गौरव पतित नहुष की भाँति प्रसाद-चेष्टा और पुरुषत्व-चेतना से मन्द हो उठा है। 'सिद्धराज' को इस काव्य-प्रणाली में कहाँ रखें हम कह नहीं सकते। इसके निवेदन की प्रथम पंक्ति में लेखक—कवि ने लिखा है—अपने मध्यकालीन वीरों की एक झलक पाने के लिए पाठक 'सिद्धराज' पढ़ेंगे तो सम्भवतः उन्हें निराश न होना पड़ेगा।" इस दृष्टि से इसे जयद्रथ-वध के साथ रखना चाहिए। प्रेम का प्रासङ्गिक समावेश इसमें हुआ है, अतः 'अनघ' के समकक्ष इसे मानना होगा—पर यह सब वस्तु की दृष्टि से ही है—भाव और कला का धरातल उसमें वह है जो बाद की रचनाओं में है। पुरुष का कर्तृत्व है, पर उसमें स्त्री-सौन्दर्य और प्रेम निर्जीव नहीं, वस्तुतः सिद्धराज में वह प्रेम साकेत और यशोधरा के प्रेम से भी अधिक सजीव हो उठा है—नहुष में पुरुष की विजय की गूँज है और 'सिद्धराज' मे स्त्री की

विजय की, नहुष पतित हो कर भी अपतित रहा है। सिद्धराज अपतित होकर भी पतित बन गया है।

सबसे पहला अन्तर काव्यों को आरम्भ करने की प्रणाली मे दिखायी पड़ता है, अपनी पहली रचनाओं मे अपना उद्देश्य कवि ने बहुत वाच्य रखा है :

वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो
फिर पूर्वजों के चरित की शिक्षा तरंगों में बहो—

किन्तु इन बाद के काव्यों में 'जानकी जीवन' की जय भी उतनी वाच्य नहीं रही, फिर उद्देश्य तो और भी अधिक व्यंग्य होता चला गया है। 'साकेत' के मङ्गलाचरण मे संस्कृत नाटकीय शैली के नान्दी का आभास है :

जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति,
स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं
'देखो अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूंड से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं, कन्दुक-सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही झेल कर, खेल कर खाते हैं।'

और यशोधरा के मङ्गलाचरण मे है—

राम, तुम्हारे इसी धाम में, नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ।
× × ×
धन्य हमारा भूमि-भार भी, जिससे तुम अवतार धरो।
भुक्ति-मुक्ति मांगें क्या तुमसे, हमें भक्ति दो, ओ अमिताभ!

सिद्धराज में—

आप अवतीर्ण हुए दुःख देख जन के,
भ्रातृ हेतु राज्य छोड़, वासी बने बन के;

राक्षसों को मार मार मेटा धरा-धाम का,
बढ़े धर्म, दया-दान-युद्ध-वीर राम का।

नहुष में—

क्योंकर हो मेरे मन-मानिक की रक्षा ओह!
मार्ग के लुटेरे—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।
किन्तु मैं बढ़ूँगा राम,
लेकर तुम्हारा नाम,
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा, थोड़ा छोह॥

वन्दना मङ्गलाचरण में साकेत को छोड़कर, सर्वत्र राम की ही है। साकेत स्वयं ही राम-काव्य है, इसलिए उसका आरम्भ 'गणेश-स्तुति' से हुआ है। तो 'राम' की वन्दना, दो धरातलों पर दो प्रकार की है। दूसरे धरातल में केवल 'जय' बोल कर काम नहीं चला लिया गया, राम के गुणों का, अथवा अपनी अपेक्षा में राम की महत्ता का उल्लेख किया गया है। इससे इन मङ्गलाचरणों में कुछ विस्तार तो हुआ ही है, साथ ही कथा मे आनेवाले उद्देश्य की समकक्ष भावावली या वृत्त का समावेश भी। मङ्गलाचरण इस प्रकार, वाच्य से अधिक व्यञ्जना पूर्ण हो गया है। कवि को, इस प्रकार, अपने राम और उसके धर्म, दया, दान, युद्ध की व्याप्ति सर्वत्र मिलती है, इससे उसे इस भाव की सन्तुष्टि होती है कि—

'राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
सब में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

वे भी तुलसी की भाँति राम-मयता में आनन्द प्राप्त करते हैं।

और वस्तुत· राम मय-धर्म की गहरी जीवन-परक व्याख्या गुप्तजी के इन काव्यो में प्रधान बन गयी है। पञ्चवटी में आकर कवि को अपने निश्चित मार्ग का दृढ़-सूत्र हाथ में आ गया, अब उसे उसके सहारे उठने की बात रही। पञ्चवटी से पूर्व कवि ने

वीरों की वीरता के मूर्त रूप का चित्र खींचा, उसमें राष्ट्रता रखी। उस राष्ट्र की ऊपरी शोभा ने ही उसे अधिक मुग्ध किया, शौर्य की व्याख्या रण मे चमचमाते हुए प्रहार रक्त-रञ्जन से ही हो सकी है, अतः उसका धरातल बदला और वह शौर्य की कहानी के साथ वीरता की कहानी कहने लगा—वह अब भावुकता से आगे बढ़ा और बौद्धिकता उसमें आने लगी। इसी का परिणाम यह हुआ है कि उनके बाद के काव्यों में कथावृत्त की अपेक्षा संवाद अधिक विशद हुए हैं। और वे क्रमशः अधिकाधिक वाक्य वैदग्ध्य से युक्त होते चले गये हैं। पहले के काव्यों मे जहाँ हृदयोद्दोलन है, वहाँ इन नये काव्यो में उस हृदयोद्दोलन पर झूलता हुआ मानस-विलास-बौद्धिक, उत्कर्ष, wit, वाक-वैदग्ध्य पूर्ण व्याख्या का उल्लास है।

कथा-वस्तु पहले काव्यों की अपेक्षा विशद और विस्तार पूर्ण हो गयी है—अब कवि ने जैसे कहानियाँ न लिखकर उप-न्यास लिखे हो। खण्ड-काव्य न लिखकर महाकाव्य की ओर पग बढ़ाया है—उनके काव्य की चित्रपटी लम्बी चौड़ी हो गयी है, और उसके साथ ही चित्रपटी का सौन्दर्य ही नहा निखरा उसकी भूमिका पर अभिनय करने वाले विविध पात्रों का भी सौन्दर्य अधिक उज्ज्वल और जीता-जागता हो उठा है। कवि की कल्पना ने बाह्य सौन्दर्य के साथ हृदय-सौन्दर्य के भी दर्शन कराये हैं।

इन काव्यों में कवि की कल्पना पहले से कहीं उर्वर हो उठी है, और उसने केवल कथा-निर्माण मे ही नवीनता लाने के लिए उसका उपयोग नहीं किया वरन् पात्रों के चरित्रो का विकास और उनके अनुकूल दृश्यपटी और साथ में इन सब में व्याप्त अपने दृष्टिकोण की व्याख्या और इन सबके उचित और काव्य-मय विधान के लिए भी अपनी वेगवती कल्पना का अञ्चल उन्होंने पकड़ा है। फिर इन काव्यों की टेकनीक—काव्य-कौशल, भी

पहले के काव्यों से यथार्थ में भिन्न हो गया है। पहले के काव्य तो उपदेश ग्रहण करने के निमित्त थे—जैसा 'आदर्श' उन्हें अपने प्राचीनों से मिला उसी को ओज के साथ उन्होंने रख दिया—और कह दिया शिक्षा-ग्रहण करो। इस भाव का इन काव्यों मे नितान्त अभाव हो गया है—अब वह अपनी प्राचीन संस्कृति का व्याख्याकार हो गया है, और वीरों के विविध ऐतिहासिक कृत्यों में उदात्त भावों की सजग अनुभूति का निरूपक हो गया है। 'जयद्रथ-वध', रंग में भंग, अनघ, या त्रिपथगा के किसी काव्य में भी हमें वही पुराण-इतिहास प्रसिद्ध वृत्ति और पात्र मिलते हैं, उनमें कोई नवीन-प्राण प्रतिष्ठा नहीं। वे पुराने आदर्श हैं जो हमारे सम्मुख खड़े कर दिये गये हैं—आदर-श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिए।

पर पंचवटी से आरम्भ करके अन्त तक—नहुष तक—हमें दीखता है कि राम, लक्ष्मण, सीता, कृष्ण, गोपी, यशोदा, यशोधरा, उर्मिला सिद्धराज आदि अलौकिक हो उठे हैं, क्योंकि लोक में उनका जो स्वरूप है उसके अतिरिक्त भी कवि ने उनमें कुछ लोक-लोक से अतिरिक्त प्रकट किया है। इसी व्याख्या पर कवि का स्थान निर्भर करता है, यही व्याख्या चरित्र की नवीनता के साथ संसार के उपकार की सामग्री बनती है। महान कवियों की इसी व्याख्या पर उनकी अमरता निर्भर करती है, इसी व्याख्या के आधार पर उनकी देन आंकी जाती है—बाइबिल मे आदम और हव्वा (Adam और Eve) की कथा थी। उसकी जो व्याख्या Milton ने अपने Paradise lost में की उसी ने उसे महान बनाया। शेक्सपीयर अपने पूर्व के लेखकों की कहानियां लेकर उसमें उनसे भी अधिक ऊंची व्याख्या और सन्देश भर गया और वह इसीलिए महान हो गया। वाल्मीकि ने प्रचलित राम-चरित्र को अपनी दृष्टि से एक रूप दिया। तुलसी ने उसकी

व्याख्या और तरह से कर दी—दोनों अमर हो गये। वाल्मीकि के राम तुलसी के राम नहीं। वाल्मीकि की रामायण से तुलसी की रामायण भिन्न है। और आज गुप्तजी ने उसे एक और ही रूप दिया है। तुलसी ने, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ईश्वर को 'राम' बनाया, उन्हें मानव का अवतार दिलाया:—

'भगत-भूमि-भूसुर सुरभि-सुर-हित लागिकृपाल'—भगवान जन्म लेते हैं—किन्तु वहां 'सगुणहि अगुणहि नहिं कछु भेदा' यह दार्शनिक तथ्य सदा विद्यमान है। राम के भूत-रूप का अभूत मे, और अभूत का भूत मे समन्वय होते हुए भी धर्म-तत्व-आश्रित तुलसी की बुद्धि मानव से ईश्वर 'राम' को ओर ही संकेत करती मिलती है। ज्ञान और भक्ति का समन्वय तुलसी में है। पर वह सब दर्शन-समन्वित धार्मिक तत्व-दृष्टि में; जिसमे ज्ञान का अर्थ है 'आत्मा' को पहचानना और भक्ति का अर्थ है अपना सर्वस्व समर्पण—एक-भाव और अनन्यता लेकर। तुलसी के लिए 'राम' से भी 'राम' नाम महान है। वह राम नाम भगवन्नाम के समकक्ष है—उसी में विलीन हो जाने वाला नहीं उसी के समरूप, सम अर्थ और सम भाव संयुक्त राम के मानव-चरित्र तो इसलिए हैं कि उन्हीं के द्वारा भक्तों को तुष्टि मिल सकती है, और देवकार्य सध सकता है; इसलिए है कि भक्त *भगवान* को *'साकार'* अपने बीच में अपनी जैसी कल्पनाओं से वलित देखना चाहता है, और भगवान भक्तों के वश मे है। भगवान ने तुलसी के राम मे अवतार ग्रहण किया है। भगवान कृपापूर्वक मानव बना है। यह तुलसी की व्याख्या है।

पर गुप्त के राम इन रामों से भिन्न हैं—तुलसी के युग के लिए आवश्यक जो सहज भक्ति और दार्शनिक ज्ञान की समन्विति राम के द्वारा जनता ने पायी वह आज के बौद्धिक युग में सर्वथा ग्राह्य नहीं हो सकती थी। गुप्तजी के 'राम मानव हैं'—

यह प्रश्न कि 'राम तुम मानव हो' ? प्रश्न नहीं कवि की धारणा का बोधक है—स्पष्ट ही उनका राम ईश्वरावतार नहीं—ईश्वर आकर राम में उतरता नहीं—राम ईश्वरत्व प्राप्त करते हैं। पंचवटी में तो कवि ने मनुष्यता के लिए इतना ही कहा था:—

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ,

पर 'साकेत' तक आते आते वह यह भी मानने लग गया कि वह ईश्वरत्व को भी जननी है। तुलसी के राम भक्तों और देवों का कार्य करने को गये हैं—राक्षसों का भू-भार उतारने। गुप्त के राम मानव-चरित्र स्पृहणीय बनाने के लिए आर्य संस्कृति और सभ्यता का विस्तार करने के लिए। वशिष्ठ ने राम से कहा है:—

मुनि-रक्षक सम करो विपिन में वास तुम,
मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम
करो आर्य-सम वन्यचरों को सभ्य तुम

और सब से अधिक कवि के इस आधार को स्पष्ट किया है राम ने स्वयं अपने वक्तव्य में—वे कहते हैं :

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।
अथवा आकर्षण पुण्य-भूमि का ऐसा
अवतरित हुआ मैं, आप उच्चफल जैसा,
जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।
पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।

इस प्रकार गुप्तजी के राम तुलसी के राम की एक व्याख्या हैं,

और उनका संदेश तुलसी के राम से भिन्न मानव में ईश्वरत्व का साक्षात्कार है। यही कारण है कि मनुष्य उन्हें ईश्वर कह कर पूजते नहीं, उनके गुणों पर मुग्ध होते और उनकी महानता पर लुटते प्रतीत होते हैं—

राम के अवतार सम्बन्धी चमत्कारों के प्रति कवि ने कोई विशेष उत्साह नही दिखाया, एक स्थान पर उसने कहा है :

बढ़ी पदों की ओर तरंगित सुरसरी,
मोद-भरी मदमत्त झूमती थी तरी
धो ली गुह ने धूलि अहल्या-तारिणी,
कवि की मानस-कोष-विभूति-विहारिणी,
प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया
कर चरणामृत-पान अमर वह हो गया !

तो इन पंक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि कवि ने तुलसी के मानस-कोष के राम की ही व्याख्या की है—और वह राम उस सारी निराकार और निर्गुण सत्ता अथवा ब्रह्मत्व का प्रदर्शन किए—मनुज मे ईश्वरत्व की उपलब्धि का साधन बना है। वही बुद्ध में भगवान पद प्राप्ति दिखाता है। वे कहते हैं :

वह जन्म-मरण का भ्रमण-भाण,
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण,
निर्वाण-हेतु मेरा प्रयाण;
क्या वात-वृष्टि, क्या शीत-घाम
ओ क्षण भंगुर भव, राम राम !

हे राम, तुम्हारा वंश-जात,
सिद्धार्थ तुम्हारी भांति, तात,
घर छोड़ चला यह आज रात,
अशीष उसे दो, लो प्रणाम।
ओ क्षण-भंगुर भव, राम-राम !

फिर यही सिद्धार्थ अन्त मे 'यशोधरा' से कहता है :

क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान !

यही मानव के कर्तव्य से ईश्वरत्व, देवत्व या इन्द्रत्व प्राप्ति का भाव साकेत और उससे आगे के काव्यों मे स्पष्ट झिलमिला रहा है—

आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी।

और—

उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊंची उठे मेरे साथ।

इस नये धरातल पर कवि में पहले से एक और उत्थान यह मिलता है कि यहाँ पर विविध रसों का प्रसङ्गानुकूल वर्णन रस सृष्टि के लिए नहीं हुआ। वह अभिप्रेत अर्थ को जागृत करके उस महत्‌भाव सामर्थ को बलवती करने के लिए हुआ है जो उस रचना में अभीष्ट है। जयद्रथ-वध और उसके समकक्ष खण्डकाव्यों में वीरता और करुणा के विविध दृश्य एक के बाद एक झाँकियों की भाँति आते और अपने रस मे सरसाते चले जाते हैं, जैसे पूर्णकाव्य विविध रसो की मणिमाला हो। पर साकेत और उसके समकक्ष काव्यों मे यह बात नही रही। इसमें मणि-माणिक की भाँति कथा-सूत्र द्वारा पिरोये हुए नहीं कहे जा सकते। वे कथा-सूत्र के सम्पूर्ण वस्तु में तन्तुवाय के ताने की भाँति व्याप्त हैं; अभिप्राय यह है कि जयद्रथ-वध के उत्तरा-विलाप की झाँकी उर्मिला या यशोधरा का विलाप-कलाप नहीं। अभिमन्यु के शौर्य के वीरत्व-बोधक वर्णन की भाँति राम-लक्ष्मण-हनूमान आदि का युद्ध-कार्य नहीं—बाद के काव्यों के रस-वर्णन-पूर्ण स्थल अपने अस्तित्व के मूल अभिप्राय मे विस-

जित किए हुए है—हम अभिमन्यु के युद्ध को देख कर जैसे 'वाह वाह' कर उठते हैं, वैसे साकेत मे नहीं कर सकते, वहाँ हम उस वीरता के अभिप्राय की महानता पर साधुवाद देते हैं।

साकेत या पञ्चवटी से पूर्व की रचनाओं मे अभिप्राय का अभाव था, जो कुछ अभिप्राय था वह बहुत ही स्पष्ट वाच्य-ऊपरी धरातल का था। साकेत या पञ्चवटी से लेकर आगे के काव्य में यह अभिप्राय प्रधान हो उठा है और वह अधिकाधिक गहरे व्यङ्ग के साथ रचनाओ मे समाया हुआ मिलता है।

राष्ट्रता का जो दर्शन उसे पञ्चवटी-पूर्व के काव्यों मे हुआ था, उसके निर्दोष, असंकुचित आर्य राष्ट्रीयता का रूप पाया है पञ्चवटी से बाद के काव्यों में। इसमे सन्देह नहीं कि ये नये काव्य कथा-दृष्टि से तीन भागो मे रखे जा सकते हैं—मानव-मर्यादा के उत्फुल्ल सार्थक पालन में अभीष्ट दिखाने वाले काव्य-जैसे साकेत। दूसरे मानव के आत्म रूप और आत्म-उपलब्धि से सम्बन्ध रखने वाले—जैसे 'यशोधरा'। तीसरे मानव के ओज और शौर्य के उदात्त उद्देश्यो को घोषित करने वाले—यथा सिद्धराज और नहुप। राम कर्मबल और कर्तव्य-कर्तृत्व से ईश्वरत्व-प्राप्ति का सन्देश देते हैं, बुद्ध तपोद्भूत आत्मबल से ईश्वरत्व प्राप्ति का सन्देश देते है, और सिद्धराज तथा नहुप में उस ईश्वरत्व के साधन 'मानव' और उस मानव के साधन 'भारत-भूमि' की प्राप्ति का साधन कर्मण्य वीरता है। पहले दो प्रकार की रचनाओ मे तो यह राष्ट्रीयता लुकी छिपी झाँकी है, नहुष में भी उसका उतना उद्रेक नहीं, पर सिद्धराज में वह कहीं-कहीं प्रकट है—अन्त मे मदन वर्मा ने कहा है—

> होंगे युग-पुरुष स्वयं ही युगयुग में,
> देना पड़े मूल्य हमें चाहे जितना बड़ा,

हम यवनों से भी ठगाये नहीं जायँगे,
आर्य-भूमि अन्त में रहेगी आर्य-भूमि ही,
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सब की,
होगा एक विश्व-तीर्थ भारत ही भूमि का।

नहुष का ओज मानव का अपने प्रति मानव के सङ्घर्ष में व्यतीत हुआ है। पुरुष को यौन-आकर्षण (sex attraction) गिराता है और उसके चेतन मानव को उससे उठना होता है। यही नहुष का कर्मण्य रूप है, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

गुप्तजी की काव्य-शैलियाँ

गुप्तजी ने अपने काव्य को प्रकट करने के लिए एक रचना-शैली का उपयोग नहीं किया। उन्होंने कई शैलियाँ अपनाई हैं। शैली एक व्यापक शब्द है, भाव, भाषा और रचना तीनों की ही शैलियाँ प्रथक प्रथक होती हैं। रचना-शैली में हम साहित्य की अभिव्यक्ति के विविध रूपों (forms) को लेते हैं। भाषा-शैली में भाषा का रूप, प्रकार, विन्यास, शक्ति तथा क्षमता की विविधता का विश्लेषण हमें करना होता है। भाव-शैली में भावों को प्रकट करने के Logical (तर्कयुक्त), Emotional (भावुक), Illustrational (दृष्टान्त युक्त), Tactical (अलङ्कारादि कौशलमय) प्रणालियाँ आती हैं। हमें यहाँ रचना-शैलियों को देखना है।

शैलियों के इस निर्वाचन में गुप्तजी ने विविधता दिखायी है। सब काव्यों में सब स्थानों पर उन्होंने एक ही रचना शैली का उपयोग नहीं किया है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि प्रधानता उनमें प्रबन्धात्मक इतिवृत्त मय शैली की है। उनके अधिकांश काव्य इसी शैली में हैं—रंग में भग, जयद्रथ-वध, नहुष, सिद्धराज, त्रिपथगा, साकेत सभी इसी शैली में हैं। यह शैली दो प्रकार की तो प्रबन्ध की दृष्टि से होती है, एक तो खण्ड-प्रबन्ध, जो 'खण्ड-काव्य' कहलाता है। दूसरा महा-प्रबन्ध जो महाकाव्य कहलाता है। कवि खण्ड-काव्य लिखने के लिए अधिक उत्सुक रहा है—महाकाव्य तो उसने एक 'साकेत' दिया है, शेष सभी 'खण्ड-काव्य' कहे जायँगे। इन दोनो प्रणालियो मे ही कवि सफल हुआ है।

जयद्रथ-वध, पञ्चवटी और सिद्धराज उसके सब से सफल खण्ड-काव्य हैं. इनमें भी पञ्चवटी काव्य की दृष्टि से सर्वोत्तम है, 'जयद्रथ-वध' अधिक भावुक-कलापूर्ण एवं सिद्धराज कुछ विशेष बौद्धिक हो गया है। 'साकेत' अकेला है, पर बहुत सफल हुआ है। उर्मिला का नवमसर्ग में उतना लम्बा विलाप भी उसे भावरूप में शिथिल नहीं होने देता। बाह्य दृष्टि से देखने पर बिना उर्मिला के कथन के अन्तरभाव और उनके तारतम्य को समझे ही हम नवम सर्ग को भारी चीज कह सकते हैं, उसमें रुक-रुक कर लिखे गये वियोग-काव्य के अलग-अलग पद्य क्रम बद्ध हैं—और उन्हें जो क्रमशः समझता चला जायगा उसके समक्ष 'साकेत' काव्य का वास्तविक सौन्दर्य झिलमिला उठेगा।

इस प्रबन्ध शैली के साथ वर्णन या विवरण-शैली भी गुप्तजी ने अपनायी है—भारत-भारती या हिन्दू इसी शैली में हैं। यह उद्बोधन के लिए काम में लायी गयी है। इस शैली में भी कवि सफल हुआ है, और 'भारत भारती' की लोक-प्रियता तथा प्रशंसा इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

तीसरी शैली है, गीति-नाट्य-शैली। इस शैली में कवि ने नाटकीय प्रणाली का अनुगमन किया है, पर लिखा है सब पद्य-बद्ध—कथोपकथन पद्य में। 'अनघ' इसका उदाहरण है।

चौथी शैली है गीति-शैली—इस शैली में कवि ने झंकार लिखी है। इस शैली के लिए कवि लय तो ले आया है, पर शब्द प्रगीतात्मक नहीं हो पाये, उसके पुरुष भावों को तब तक वेदना-पूर्ण सहज कोमल उदात्तता कहाँ मिल पायी थी।

अतः उसकी झंकार में उसकी भावनाएँ तो संगीतमय हो उठी हैं, पर सहजानुभूति जागृत नहीं हो पायी और शब्द अपना कलेवर नवनीत का या वेदना पूर्ण नहीं बना पाये।

गुप्तजी की पाँचवीं शैली है—'आत्मोद्गार प्रणाली'—और इसमें द्वापर लिखा गया है।

फिर छठी शैली है मिश्र शैली—नाटक, गीत, प्रवन्ध, पद्य और गद्य सभी के मिश्रण की भांति और यह है यशोधरा।

इन सभी शैलियों मे कवि को समान रूप से सफलता नहीं मिली। गीति और गीति-नाट्य शैली में उसे निश्चय ही अब तक सब से कम सफलता मिली है—यों यह भी कहा जाता है कि साकेत में प्राचीन प्रवन्ध-शैली के साथ-साथ प्रगीतात्मक शैली का भी सम्वन्ध कवि ने किया है, गीत उसने साकेत मे रखे ही हैं, जिनमें से सीताजी का यह प्रसिद्ध गीत भी है :—

'निज राजभवन में उटज पिता ने छाया।'

पर इस प्रगीतात्मकता में जैसा ऊपर कहा जा चुका है लय है, गति है, कोमलता भी सम्भवतः है, पर प्रगीतत्न के लिए lyricism के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं, अन्तर सौन्दर्यानुभूति की सहजवेदना-शील अभिव्यक्ति के बिना lyric प्रगीतमय गीत हो ही नहीं पाता। गुप्तजी अपने गीतों में इसे नहीं ला सके हैं—उनके करुण से करुण छन्द भी करुणा के नहीं करुणा की उक्ति (argument) के छन्द हैं। उन्होंने उस प्रगीतात्मकता को लाने का उद्योग किया है, पर उनके अपने धारणा-चक्र ने इसमें रस नहीं उँडेलने दिया।

गुप्तजी की शैली की विशेषताएं

प्रत्येक कवि की अपनी निजी शैली होती है। शैली का विकास व्यक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण मनुष्य के चरित्र से सम्बन्धित होता है और इसलिए एक कवि की शैली की विशेषताओं का जानना उसकी निजी विशेषताओं का जानना ही है।

गुप्तजी हिन्दी के प्रधान कवि हैं। उनकी लेखनी में एक आकर्षण है जिसके कारण वे सभी को प्रिय प्रतीत होते हैं। सब से बड़ी विशेषता उनमें इसी आकर्षण-शक्ति की है और इस आकर्षण शक्ति का रहस्य है भाषा पर अधिकार और विषय का मनन।

इनकी भाषा अधिकांश में संस्कृत शब्दों से पूर्ण है। आरम्भ की रचनाओं में तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य बहुत ही खटकने-वाला-सा हो गया है, और इसी कारण कोई-कोई स्थल 'प्रिय-प्रवास' की भाँति बहुत ही दुरूह हो गये हैं। परन्तु संस्कृत शैली मैथिलीशरण गुप्त के साथ 'प्रिय-प्रवास' की तरह नियम नहीं, वरन् देखा यह गया है कि कवि ने ओज में ही संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग किया है और आगे चलकर जैसे जैसे कवि की भावनाओं में कोमलता आती गई है वैसे ही वैसे भाषा में भी सरलता एवं प्रसाद बढ़ने लगा। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर गुप्तजी ने कठिन शब्दों का ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं समझा है, फिर भी विशेषता आगे के काव्यों में सरल भाषा ही की है। वह सरलता भी कहीं कहीं इतनी अधिक होगई है कि भाषा एक दम परिष्कार शून्य तथा साधारण बोलचाल

की सी रह गई है। साकेत मे इस दृष्टि से ये पद्य द्रष्टव्य हैं:—

बोले फिर वे कि 'कहाँ छोड़ा,
ले चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा।
मुझको भी वहाँ छोड़ आओ,
वह रामचन्द्र मुख दिखलाओ।'

और

प्रभु की वाणी कट न सकी,
युक्ति एक भी अट न सकी।

साधारणतः मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में शिथिलता नहीं पाई जाती। छोटे छोटे काव्यों मे तो निस्सं‌देह कवि की भाषा बहुत ही गठी हुई रही है। 'साकेत' जैसे महाकाव्य मे, यह सम्भव हो सकता है कि, कोई शिथिल क्षण आजायँ। उन्हीं क्षणों मे कवि को कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग कर देना पड़ा है जो अपरिमार्जित हैं, जो भरती के है, जो केवल तुकपूर्ति के लिये लाए गए है और जो भावों के सहचर नहीं। पर, ऐसे स्थल बहुत कम होने से अपवाद ही समझे जाने चाहिए। साधारणतः भाषा पूरी निखरी हुई है; शब्द जड़े-हुए-से प्रतीत होते हैं।

शैली पर विचार करते समय भाषा और भाव दोनो ही पर दृष्टि रखनी पड़ती है। प्राचीन आचार्यों ने यह मानते हुए भी कि शैली का सम्बन्ध भाव से है, शब्दो की गठन पर विशेष जोर दिया। निस्सन्देह वर्णमाला के कुछ अक्षर विशेष कोमल हैं, कुछ विशेष मधुर है, कुछ विशेष परुष हैं; और इनके विन्यास से ही कोई वाक्य कोमला, परुषा अथवा उपनागरिका शैली मे हो सकता है। संस्कृत आचार्यों ने जिसे वृत्ति माना है, वही आज हम भाषा-शैली के नाम से जानते है। यद्यपि केवल अक्षरो के आधार पर शैलियों का निश्चय नहीं होता तो भी यह तो अवश्य देखा जाता है कि एक शब्द का सम्मिलित प्रभाव क्या

पड़ता है ? इस दृष्टि से विचार करने पर यह विदित होता है कि गुप्तजी को व्यर्थ अनुप्रासमयी कोमलकान्त पदावली रोचक नहीं प्रतीत होती। अनुप्रासयुक्त भाषा बहुत कम मिलती है। आरम्भिक रचनाओं में तो बाद के काव्यों की अपेक्षा अवश्य कठिन शब्दों एवं समास पदों का बाहुल्य अधिक मिलता है। अनुप्रासयुक्त भाषा भी कहीं-कहीं मिल जाती है। परन्तु बाद के काव्यों में ऐसा नहीं है और इससे यही सिद्ध होता है कि कवि ने भाषा को मुख्य विषय नहीं बनाया और केवल उसी के सजाने में, शक्ति व्यय नहीं की। भावों को मार्मिक बनाने के लिए जहाँ जैसे शब्द की आवश्यकता हुई वहाँ वैसे ही रख देने का प्रयत्न दीख पड़ता है। किन्तु भाषा पर अधिकार होने के कारण कवि को कहीं-कहीं शब्द-चमत्कार दिखाने में सुविधा रही है। उसने रीति-पद्धति के कवियों की भाँति श्लेष-यमक का प्रयोग कई स्थानों पर किया है—

गिरि हरि का हर वेष देख वृष वन मिला।
उन पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला॥ (साकेत)

यहाँ 'वृष' के श्लेष से कवि ने चमत्कार उपस्थित किया है

रामानुज ने कहा कि "भाभी, क्यों नहीं,
सरस्वती-सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं॥"
"देवर मेरी सरस्वती अब है कहाँ?
संगम शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ।"

'सरस्वती' के श्लेष से वक्रोक्ति कवि ने कराई है। वीप्सा का भी कवि ने कम उपयोग नहीं किया—

विकल जीवन व्यर्थ बहा बहा।
सरस दो पद भी न हुए हहा!

'पुनरुक्ति प्रकाश' का तो विशेष रूप से प्रयोग किया गया

मिलता है। इसका इतना अधिक और सुष्ठु प्रयोग हिन्दी में कम ही मिलता है।

सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था, सभीत सा शीत के कसाले में। (साकेत)

ढलमल ढलमल चंचल अचल, झलमल झलमल तारा।

× × × ×

निर्मल जल अन्तस्तल भरके
उछल उछल कर, छल छल करके
थलथल तरके, कलकल धरके।

× × ×

अवधि शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी दृग जल धार।

× × × ×

लाना लाना नाथ तूली।
डरती हूँ, फिर मन न जाऊँ,
मैं हूँ भूली भूली।

× × ×

कूद ने भी आगे,
पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते।

इन पुनरुक्तियों का प्रयोग कवि ने किसी क्रिया की गतिमत्ता दिखाने के लिये किया है, जैसे—

"सिकुड़ा सिकुड़ा" "ढलमल ढलमल" आदि।

ध्वनि प्रतिध्वनि की अभिव्यक्ति के लिये किया है, जैसे—

"छल छल", "कल कल" आदि।

कहीं भिन्नता और अन्तर की सूचना के लिए द्वित्व किया गया है—

'थल थल करके', 'निज निज प्रभु'।

कहीं उत्साह और प्रबोध प्रकट होता है—

पड़जा, बढ़जा, विटपि निकट वल्ली।

कहीं अव्यवस्था की अनस्थिरता तथा अपरिभाषणीयता व्यक्त करने के लिए—

मैं हूं भूली भूली।

कहीं क्रिया की गतिमत्ता के साथ समवेदना जाग्रत करने के लिए—

कूदे से भी आगे
पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते।

कहीं इसी पुनरुक्ति से उन्होंने गति की मन्थरता दिखाई है—

सखि नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा तरता तरता।

यही पुनरुक्ति उन्होंने कहीं हृदय के भावों के इतने साथ करदी है कि उससे भाव की विशदता बड़ी उग्र हो उठी है—

लपट से झट रुख जले जले,
नद नदी घट सूख चले चले।
विकल ये मृग मीन मरे मरे,
विफल ये दृग दीन भरे भरे।

× × ×

शब्द की ऐसी प्रक्रियाओं मे ध्वनि की अपेक्षा वाच्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। शब्दों के द्वारा अर्थ की व्यञ्जना तो कम होती है किन्तु अभिधेयार्थ मे एक विस्तार और वृद्धि-सी आ जाती है। ऐसी अवस्था मे मन.कल्पना का चाहे कुछ आभास न हो, पर हृदय पर स्पर्श अवश्य होता है। भाव से हृदय को दवाने के लिये कवि ने समानाधिकारी वाक्यों का भी वहुत प्रयोग किया है; एक ही सी वात कई वार मन में टकरा कर भाव की ओर आकर्पण उत्पन्न कर देती है—

कहा प्रभु ने कि "हाँ बस चुप रहो तुम;
अरुन्तुद वाक्य कहते हो अहो! तुम!
जताते कोप किस पर हो, कहो तुम?
सुनो, जो मैं कहूँ, चंचल न हो तुम।

× × ×

आर्य! यही अभिषेक तुम्हारे भृत्य भरत का,
अन्तर्बाह्य अशेष आज कृतकृत्य भरत का।

× × ×

बोली सुलक्षणा नाम सखी—
"है धीरज का ही काम सखी!
विधि भी न रहेगा वाम सखी,
फिर आवेंगे श्रीराम सखी।

× × ×

रानी! तूने तो रुला दिया पहले ही,
यह कह काँटों पर सुला दिया पहले ही।

× × ×

खचित-तरणि, मणि-रन्जित केतु झकमका रहे थे,
वस्त्र धकधका रहे, शस्त्र भकभका रहे थे।
हो होकर उद्ग्रीव लोग टक लगा रहे थे,
नगर-जगैया जगर-मगर जगमगा रहे थे।

इस प्रकार की शैली से कवि ख्याल-प्रणाली के अधिक निकट पहुँच गया है। इसीलिए भाषा का रूप बोलचाल की भाषा के बहुत निकट आ गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि शब्द भी साधारण हैं। महाकाव्यों में कहीं-कहीं तो बहुत कठिन और अप्रयुक्त शब्द मिलते हैं। 'अरुन्तुद' जैसे शब्द हिन्दी में कम ही काम आते हैं। भरत-माण्डवी वाले प्रकरण में भी ऐसे शब्द कुछ विशेष हैं। फिर भी भाषा में कृत्रिमता नहीं। बोलचाल की भाषा

के इतने निकट भाषा का लिखना मैथिलीशरणजी का विशेष गुण है। अन्य कवियों में यह गुण इतना नहीं मिलता। 'पञ्चवटी' आदि मे ऐसे कई स्थल मिलते है जहाँ गुप्तजी ने कवि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग न करके भाषा को गद्य के नियमों के अनुकूल ही रक्खा हैं। यदि उन चरणों में से यति और लय निकाल दी जाय तो साधारण गद्य वाक्य से रह जाएँ। यथा—

सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं।

भाव की दृष्टि से भाषा पर विचार—भाव की दृष्टि से भाषा पर विचार दो भागों मे हो सकता है—(१) दृश्य-चित्रण और कथोपकथन।

दृश्य-चित्रण—दृश्य-चित्रण में कवि की भाषा सजीव चित्र खींचने मे समर्थ हुई है। उस सजीवता को लाने मे कवि ने अलङ्कारो का इतना प्रयोग नहीं किया है जितना वस्तु-व्यञ्जना का आश्रय लिया है। वस्तु-व्यञ्जना में भी उस चित्र मे कोई अलौकिक ऊहात्मक कल्पना नहीं, केवल अभिव्यञ्जक विलक्षण शब्दों का चयन ही विशेष है। उषा के प्रकट होने के समय प्रकृति का रङ्ग बदल जाता है और श्यामाकाश कुछ कुछ अरुण और सुनहली आभा से भूषित हो जाता है। इस वर्णन मे न स्वाभाविकता है, कोई विशेष ऊहा नहीं। इसीको कवि ने अपने शब्द-चयन में हलके हलके अलङ्कारों के सहारे इस प्रकार अभि-व्यक्त किया है :—

'इसी समय पौ फटी'

इसी प्रकार :—

'हँसने लगे कुसुम कानन के'

देख चित्र सा एक महान।' (पंचवटी छन्द ६७)

और भी :—

'कटि के नीचे चिकुर जाल में।' (पंचवटी छंद ३२)

इन शब्दों की अभिव्यञ्जना-शक्ति के द्वारा प्रकृति के चित्र गत्यात्मक प्रतीत होते हैं, स्थिर नहीं। स्थिर चित्रों की अपेक्षा ऐसे चित्र ही कवि-कौशल की कसौटी हैं। 'साकेत' में उनकी यह विशेषता विशेष परिलक्षणीय है, और जहाँ तीव्रता की अपेक्षा है, वहाँ तो कवि ने चल-चित्रों के रङ्गों में दृश्य उपस्थित किया है। लक्ष्मण के शक्ति लगने का संवाद हनुमान के द्वारा भरत तथा शत्रुघ्न ने सुना। सेना को चलने का आदेश देना है, देर हो जाने में कल्याण नहीं। वीर शत्रुघ्न जिस त्वरा से नन्दिग्राम से अयोध्या को चले हैं वह कवि ने किस त्वरित शैली में प्रदर्शित किया है :—

सिर पर नत शत्रुघ्न भरत निर्देश धरे थे,
पर 'जो आज्ञा' कह न सके आवेश भरे थे।
छूकर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े वे,
झोंके पर ज्यों गंध, अश्व पर कूद चढ़े वे,
निकला पड़ता वक्ष तोड़ कर वीर हृदय था,
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता-सा हय था।
जैसा उनके क्षुब्ध हृदय में धड़ धड़ धड़ था,
वैसा ही उस वाजि वेग में पड़ पड़ पड़ था।...आदि

गति का कितना स्पन्दित चित्र है; शत्रुघ्न की यह यात्रा हृदय में एक लीक-सी छोड़ जाती है

उर्मिला चित्र खींच रही है, लक्ष्मण का। सात्विक भावों का उद्गार हुआ। इसका कैसा पूर्ण चित्र शब्दों में ही गुप्तजी ने उपस्थित किया है :—

ज्योति सी सौमित्रि के सम्मुख जगी,
चित्रपट पर लेखनी चलने लगी।

अवयवों की गठन दिखला कर नई,
अमल जल पर कमल से फूले कई।
साथ हीं सात्विक सुमन खिलने लगे,
लेखिका के हाथ कुछ हिलने लगे।
झलक आया स्वेद भी मकरन्द सा,
पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द सा।
चिवुक रचना में उमङ्ग नहीं रुकी,
रङ्ग फैला लेखनी आगे झुकी।
एक पीत तरङ्ग रेखा-सी वही,
और वह अभिषेक घट पर जा रही। (सा०, पृ० १२)

ऐसे चित्रों की सफलता तभी सम्भव है जब कवि की पैनी, व्यापक तथा सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के साथ उसका भाषाधिकार भी उसकी सहायता के लिये प्रस्तुत हो। विना उचित शब्द-सामञ्जस्य के चित्र ठीक नहीं उतर सकता। थोड़े से विश्लेषण से यह बात और भी स्पष्ट हो सकती है।

'ज्योति सी सौमित्रि के सम्मुख जगी' में 'जगी' क्रिया अनायास प्रज्वलन का भाव उपस्थित करती है। 'ज्योति' के साथ 'सी' सम्बद्ध होकर चित्र में एक जगमगाहट पैदा कर देती है। गुप्तजी के ऐसे चित्रों से ही यह बात सिद्ध होती है कि अलङ्कार कवि कला के उद्भास के साधन हैं। ऐसे स्थानों पर अलङ्कार अपने अपनत्व को वर्ण्य में सर्वथा विलीन कर उसके भाव की रूप रेखा की एक स्फुट और स्पष्ट अभिव्यक्ति करने लग जाता है—

अवयवों की गठन दिखला कर नई।
अमल जल पर कमल से फूले कई।

अन्तिम पंक्ति अवर्ण्य-सी ही रहती है, अवर्ण्य नहीं रहती।

चित्रों की गतिमत्ता के साथ ही कवि का यह कौशल भी

प्रेक्षणीय है कि वह एक साथ ही बहुत सी गतियों को उपस्थित कर देता है। शब्दों का नियोजन वह इस विधि और अवकाश से करता है कि गतियाँ एक के बाद एक, एक-साथ होती दीखती हैं—

पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी। (सा०, ४४५)

एक दम उर्मिला का पैर छूने के लिए झुकना, तन्मयता में उसे अपना शरीर शिथिल कर देना, उतना ही त्वरित लक्ष्मण का उसे उठाने के लिये बढ़ना और उसके गिरते-गिरते ही उसे हाथों पर रोक लेना—वह सारा उर्मिला का श्रद्धा से अभिभूत नम्र समर्पण भाव और दूसरे का क्षोभ और प्रसाद का भाव कवि ने केवल सात शब्दों में रख दिया है। शब्दों से कितना और कितनी सरलता में व्यञ्जना का काम लिया गया है। 'सिद्धराज' में भी इस कौशल की ये पक्तियाँ देखिये—

रात हो चुकी थी, दीप दीपित थे पौर में,
काँपती शिखा-सी, लिए आँगन में रूपसी,
रानक दे संकुचित और नत थी खड़ी;
था खंगार सम्मुख सजीव एक चित्र-सा।

गति ही नहीं वरन् विभिन्न भावों की अवस्था भी कितनी उज्ज्वल एक साथ प्रदर्शित होती है। ऐसे उदाहरण कम नहीं—

प्रिया कण्ठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त वधू जन हस्त स्रस्त से वक्षों पर थे। (सा०, ४११)

+ + +

चञ्चला सी छिटक छूटी उर्मिला। (सा०, २४)

इन कुशल चित्रों तथा गति के दृश्यों का परिवर्तन भी नाटकीय प्रणाली पर हुआ है। एक के बाद एक दृश्य का आना और जाना, और जाने के बाद उस दृश्य के लिये हृदय में एक शून्य-सा छोड़ जाना तथा एक उत्कंठा मात्र शेष रह जाना, यह

सब कवि की आगे की रचनाओं में—विशेषकर 'पंचवटी', 'साकेत' तथा 'यशोधरा' और सिद्धराज मे—बहुत मिलता है।

साकेत मे—पहले ही हमे उर्मिला और लक्ष्मण के अन्तरंग रंग का एक मंथर गति सवाक् चित्र मिलता है। उनके साथ समय अपने स्वर्णिम उल्लासमय पंखों पर उड़ता चल रहा है। वह हास-विलास एक दम बन्द हो गया—एक दम:—

चंचला-सी छिटक छूटी उर्मिला

लक्ष्मण प्रस्थान को प्रस्तुत हुए—उर्मिला ने प्रणाम किया—नाटकों में जिस भाँति टेब्ला (क्षण स्थिर दृश्य) उपस्थित किया जाता है, वैसा ही कवि कर गया है:—

चूमता था भूमितल को अर्ध विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
छत्र-सा ऊपर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ। (सा०, २५)

इस प्रकार दृश्य परिवर्तनो से गति तो आई ही है, एक विशेष प्रकार की उत्कंठा जाग्रत होकर कथानक मे रुचि भी बनाये रखती है। अन्यथा, रामायण का विषय जो इतना प्रचलित है, वह इतना रोचक नही बन सकता था।

कुछ तो महाकाव्यों की शास्त्रीय परिभाषा के कारण और कुछ सिनेमा की कला की ओर जाग्रत जनरुचि के संतोष के लिये कवि ने किसी-किसी स्थान पर 'भूमिका-पट' प्रदर्शित करने की शैली का भी उपयोग किया है। प्रत्येक घटना के साथ उसकी भूमिका बहुत सम्बद्ध है। उसकी उपस्थिति और परिस्थिति उद्दीपन का काम करती है। कवि ने ऐसी भूमिका-पटियों का उपयोग अनेक स्थलो पर किया है—रात्रि मे शत्रुघ्न शंख फूँकने को अट्टा पर चढ़े है। वे आज सारी अयोध्या को रण के लिये सन्नद्ध करेंगे। उस क्षण—शंख बजाने की क्रिया के कुछ क्षण-

पूर्व—अयोध्या कैसी होगी। शत्रुघ्न भी देखते हैं और कवि पाठकों को भी दिखाता है:—

> नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा छाया मे,
> भुला रहे थे स्वप्न हमे अपनी माया में।
> जीवन-मरण समान भाव से जूझ-जूझ कर,
> ठहरे पिछले पहर स्वयं वे ममगा बूझ कर।
> पुरी पार्श्व मे पड़ी हुई थी सरयू ऐसी,
> स्वयं उसी के तीर हंस माला थी जैसी।
> झाँके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के,
> खिलखिल,हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के।
> तिमिर अंक मे जब अशंक तारे पलते थे,
> स्नेहपूर्ण पुर-दीप दीप्त देकर जलते थे।

शत्रुघ्न के व्यथित और आकुल मनोभावों के लिए अयोध्या को आवृत्त किए हुए यह अभिराम एवं सौम्य प्रकृति !

चित्र की भाषा मे कवि शब्दों के चयन में इस बात का ध्यान रखता है कि यदि कोई गत्यात्मक अवसर हो तो केवल गति का चित्र ही न खींचा जाए वरन् शब्दो की आत्मा के द्वारा उसकी गति का ध्वनन भी किया जाए। इसे ध्वनन-शील शब्दो (Onomatopoetic words) का प्रयोग निस्संदेह कवि के शब्दाधिकार के कारण होता है। इसी शक्ति के कारण भाषा मे वह अभिव्यञ्जनात्मक गठन आती है जिसके कारण एक शब्द के स्थान पर बदल कर उसका पर्यायवाची शब्द रक्खा ही नहीं जा सकता। ऐसे सात्म शब्दों का प्रयोग सभी महाकवियों की एक विशेषता है। तुलसीदासजी मे इसका विशेष परिचय मिलता है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

> घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥
> उठति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बय समुद्र सर····

और भरि भुवन घोर कठोर-रव रवि-वाजि तजि मारग चले।

आधुनिक कवियों मे जिनको छायावादी कहा जाता है उनमें भी सात्म शब्दो की ओर विशेष चेष्टा दिखाई पड़ती है। मैथिलीशरण गुप्त में भी यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गई है। इस प्रकार के शब्दों का प्रारम्भिक काव्यों में उतना आधिक्य नहीं दिखाई देता। फिर भी चित्र खींचते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग आ गया है :—

झोंक न झामा के झोंके मे झुक कर झूले झाड़ों मे।

(पंचवटी, ६२)

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति पटी का रंग।

साकेत मे ऐसे स्थल बढ़ गए हैं —

अचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे।

'अचल-पट कटि' दीर्घारम्भ के पश्चात लघु अक्षरावली से यह भासित होता है कि कोई वस्तु एक दम उठा कर समेटी जा रही है। 'में खौंस कछोटा मारे' ये शब्द बतलाते हैं कि वह वस्तु एक दम कहीं ठूँस दी गई और बाद मे कुछ काल उसे सँभाला भी गया। इसी प्रकार :—

ढलमल ढलमल अचल चचल, झलमल झलमल तारा।

'ढ' की स्फोट ध्वनि, 'ल' की चित्त वर्त्यनी गति, 'म' की कुछ ठहरती हुई ध्वनि समूहों से प्रतीत होता है कि कोई वस्तु धीरे-धीरे हिल रही है, पर 'अञ्चल चञ्चल' शब्दों का नियोजन एक दम जोर के झोंके के समान लगता है—साधारण हवा से अञ्चल कभी हलके और कभी तेज झकोरों से फरफराता है। ऐसे सात्म शब्दो का उपयोग बहुत स्थानो पर महाकाव्यों मे कवि ने किया है।

कथोपकथन—कथोपकथन मे शब्दो के अन्दर इस विशेषता की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो सब से बड़ी विशेषता यही

होनी चाहिये कि जो बात कही जा रही है वह कितने मार्मिक ढँग से कही गई है।

मनुष्य की अपनी अभिव्यक्ति कथोपकथन के द्वारा ही होती है। अतः कथोपकथन में सदा ही व्यक्ति के चरित्र की स्पष्ट झलमलाहट हुआ करती है। कवि का कौशल इस बात मे है कि वह व्यक्ति के चरित्र के तत्व को समझ कर उसके अनुकूल ही शब्दों का चयन करे, जिससे वे शब्द उसके हो हो जायँ, उनमे किसी दूसरे चरित्र की झलक न आ जाय। नहीं, केवल झलक को ही नहीं बचाना चाहिये, उनमें उदासीनता भी न होनी चाहिये। सभी महान् कवियों में यह गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। तुलसीदासजी में तो एक आध स्थल को छोड़ कर इसी की प्रचुरता है। कथन को पढ़ते ही यह कहा जा सकता है कि उसमे राम का शील है अथवा लक्ष्मण का दर्प, हनुमान की सेवा की विभूति है अथवा अङ्गद की व्यवसायात्मक बुद्धि। "पंचवटी" मे चार पात्रो का प्रवेश होता है—राम, लक्ष्मण, सीता और शूर्पणखा। परम्परा से राम, लक्ष्मण और सीता की जो मूर्तियाँ हमें मिली हैं, और उनका जो सम्बन्ध हमारे सामने उपस्थित किया गया है, गुप्तजी ने उसको तो ज्यों का त्यों रखा है पर उस मूर्ति और उस सम्बन्ध में एक नई जान डाल दी है एवं पहले की अपेक्षा रंग कुछ भिन्न कर दिया है। लक्ष्मण अब भी राम के अनन्य सेवक हैं, परन्तु जो मानवीय कृतज्ञता उस सेवा-भाव के साथ मिली है वह अद्भुत है। राम की कर्तव्य-परायणता की रक्षा के साथ-साथ उनमें एक प्रमोदमयी पर संवेदन शीलता ने मिलकर वन के जीवन मे मिश्री घोल दी है। सीताजी का पति-प्रेम वैसा ही है, किन्तु उनकी Passivity (पात्रता मात्र) कुछ क्रियाशीलता मे परिवर्तित हो गई है। उनमें एक गृहिणी की-सी सुचारु क्रिया-शीलता की प्रफुल्लता

दिखाई पड़ती है। उनका प्रेम मैथिलीशरण की लेखनी में आकर प्रमोदमय और उल्लासयुक्त हो गया है। उनका वन्यजीवन चिन्ता, दुःख, भय एव आशंकाओं से सर्वथा शून्य है। पंचवटी का उनका जीवन ऐसा प्रतीत होता है मानो वे वहाँ के निवासी हो और उन्होंने अपने प्रेम से एक शान्तिपूर्ण, उल्लासमय अपना एक निराला ही जगत बना रखा हो। चौथा पात्र शूर्पणखा गुप्तजी की 'पचवटी' मे आकर एक बड़ी विचित्र वस्तु बन गई है। परम्परा के कथानक मे जो परिवर्तन 'पंचवटी' मे किया गया है उस पर विचार करते समय शूर्पणखा पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। उसको बिलकुल ही नाटकीय ढंग से कवि ने लक्ष्मण के सम्मुख उपस्थित किया है। वे उर्मिला की सुधि मे मग्न होकर एक क्षण के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। आँखें खोलने पर तो परदा बिलकुल ही बदल जाता है। कवि के शब्दो मे ही उसे रखना अच्छा है :—

मग्न हुए सौमित्र चित्र सम नेत्र निमीलित एक निमेष।
फिर आँखें खोलें तो यह क्या? अनुपम रूप अलौकिक वेष॥

लक्ष्मण ने क्या देखा :—

चकाचौंध सी लगी देख कर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख
एक हास्य वदनी वाला॥
थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा
मानो छवि से छलक रही॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त शूर्पणखा की व्याख्या ही हमें गुप्तजी की 'पञ्चवटी' की शूर्पणखा मे मिलती है।

इतने से चरित्रवेक्षण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि किस पात्र की भाषा किस प्रकार को होनी चाहिए। लक्ष्मण की भाषा में दृढ़ता का आभास होगा, साथ ही आदर्शशील होने के कारण कोमलता भो मिलेगी; परन्तु उस कोमलता में राम और सीता की कोमलता से यह अन्तर होगा कि लक्ष्मण की कोमलता राम और सीता की अपेक्षा अधिक मिश्रित होगी। इस दृष्टि से इनके शब्द कोमल होते हुए भी सरल न होने चाहिये। परन्तु, गुप्तजी के शब्द-चयन में यहाँ पर यह अन्तर नहीं रह सका। उनके कथोपकथन मे तर्क विशेष हो जाने से चरित्रो के व्यक्तित्व का लगाव उतना नहीं रह जाता जितना कि रहना चाहिये। अतः कथोपकथन में कवि ऊहात्मक तर्कों को तो रखने मे समर्थ हुआ है पर उनमे वह स्वाभाविक अन्तर नहीं कर सका। शब्दों की आत्मा से चरित्र के उन गुणों का पता नहीं लगता अतः चरित्रो की यह अभिव्यक्ति कथोपकथन की शैली की भित्ति पर नहीं प्रसङ्ग-स्थल के आधार पर है।

यहाँ तक हमने भाव और भाषा के सम्बन्ध से शैली पर विवेचन किया, और उसमे यही जानने की चेष्टा की है कि भाषा मे कितनी भावानुरूपता है। अब केवल भाषा पर ही थोडी-सी दृष्टि डालना अपेक्षित है।

भाषा शब्द-भण्डार—गुप्तजी खडी बोली के कवि हैं। खड़ी बोली में इस समय प्रायः तीन स्कूल हैं। एक तो वह स्कूल जो कि कठिन संस्कृत शब्दो और बडे समस्त पदो से युक्त भाषा को श्रेष्ठ मानता है। दूसरा संस्कृत शब्दो की बहुलता रखते हुए भी समस्त पदों को श्लाघ्य नहीं समझता। तीसरा वह स्कूल है जो हिन्दुस्तानी का पक्षपाती है। इसके मतानुसार बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग विशेष होना चाहिए जिसमे स्वतन्त्रता पूर्वक सभी भाषाओं से शब्द ग्रहण किये जा सकते है।

गुप्तजी मध्यम कोटि मे आते हैं। संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी करते हैं और हिन्दी के साधारण शब्दों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग में लाते हैं। इतना ध्यान अवश्य रहता है कि उसमें हिन्दी अथवा उसके संस्कृत रूपों को छोड़कर किसी और भाषा के शब्द न आ सकें। अतः उनकी हिन्दी शुद्ध और संस्कृत के पुट से युक्त है। हाँ, कभी-कभी कविता के लिए उन्हें ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है जो खड़ी बोली के नहीं कहे जा सकते—वे खड़ी बोली में अप्रयुक्त हो गये हैं। एक आध उदाहरण पर्याप्त होगा—

'जताना' क्रिया खड़ी बोली की नहीं परन्तु गुप्तजी ने लिखा है—

इससे सूक्ष्मदर्शिता हाँ तुम अपनी मुझे जताती हो।

इसी प्रकार—

प्रेम पात्र का क्या देखेंगी प्रिय हैं जिसे लेखनी हम।

× × × ×

तो निज कथित गुणों की सबको तुम मध्यता जना दोगी।

× × × ×

सबने मेरा भाग्य सराहा, सबने रूप बखाना।

साथ ही कहीं-कहीं बहुत ही साधारण शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए 'धरती', 'भीमना', 'बिखेर', 'बटोर', 'बिसारेंगे', 'लहकना', 'खुरपी', 'निराती', 'ठौर', 'तिवर', 'ननिक' आदि लिए जा सकते है। एक आध प्रचलित उर्दू शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जैसे 'सूरत', 'बरताव' आदि।

लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया गया है, परन्तु कम और वह भी कुछ सुन्दर रूप में नहीं। उसे कविता के साँचे में ठीक बैठाने के लिए विकृत कर दिया गया है। 'उँगली पकड़ कर पहुँचा पकड़ना' बहुत ही साधारण लोकोक्ति है और अपने इसी

रूप में वह अच्छी लगती है, पर इसीको गुप्तजी ने इस प्रकार रक्खा है—

कहते हैं इसको हाँ—अँगुली, पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।

'पहुँचे' के स्थान पर 'प्रकोष्ठ' ने आकर लोकोक्ति का सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। इसी प्रकार इसके आगे ही एक और लोकोक्ति का प्रयोग इसी ढङ्ग से हुआ है। उसमे लोकोक्ति लाने की चेष्टा मे पूरा छन्द लिखा गया है, जो व्याख्या रूप होकर भी सफलता-पूर्वक उस भाव को व्यक्त नहीं कर सका है—

रामानुज ने कहा कि भाभी है यह बात अलीक नहीं।
औरों के भागड़े में पड़ना कभी किसी को ठीक नहीं।
पञ्चायत करने आई थीं अब प्रपञ्च में क्यों न पड़ो।
वञ्चित ही होना पड़ता है यदि औरों के लिए लड़ो।

इसी प्रकार 'मन चङ्गा तो कठौती मे गङ्गा' के स्थान पर कवि लिखता है—

मनः प्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर फिर क्या प्रसाद।

साधारणतः हम देखते है कि कवि ने जहाँ तक हो सका है उचित शब्दो को ही लिया है; केवल भरती या तुक के लिये शब्द को नहीं रक्खा। दूसरे शब्दों मे, भावों के साथ जो तुके आई हैं, वे केवल तुकों के लिये नहीं आई; फिर भी एक दो स्थल ऐसे है जहाँ पर कवि की शब्द-ग्रहण शक्ति कुंठित हो गई है। फलतः उन्हे कुछ ऐसी तुकों को रख देना पड़ा है जिनसे भाव अथवा भाषा किसी को भी सुन्दरता अथवा सहायता नहीं मिलती। 'पंचवटी' मे ८५ पद के अन्त में 'तुम क्या' से तुक भिड़ाने के लिए ही इस प्रकार लिखा गया है:—

छाती फूल गई रमणी की, क्या चन्दन है कुंकुम क्या।

१०१ पद मे भी 'हो चुकी मान्या तुम' के अनुरूप तुक मिलने के लिये ही इस प्रकार कहा गया है:—

यों अनुरक्ता हुई आर्य पर, जब अन्यान्य वदान्या तुम।

११० वें छन्द में 'वढ़ वराह की दाढ़ों से' टक्कर बैठाने के लिए ही सब से अन्तिम पंक्ति का विधान किया गया है.—

विकृत भयानक और रौद्र रस, प्रकटे पूरी दाढ़ों ने।

'साकेत' में तो ऐसे स्थलों की मात्रा बढ़ गई है जहां 'वल्ली' के साथ 'निठल्ली'· 'शारिका' के साथ 'दारिका'. 'लक्खी' के साथ 'मधुमक्खी' और 'भरती', 'करती' आदि के साथ 'वरती' 'मरती' की तुक मिलाई गई है। कहीं कहीं तो यह बात बहुत ही खटकती है। इसी तुक मिलाने के लिए कवि को कहीं कहीं शब्द के स्वाभाविक रूप में विकार भी करना पड़ा है:—

जैसा है विश्वास मुझे उनके 'प्रती'

तथा—'वहीं बितायो गयो प्रथम पथ की तभी'

इस प्रकार शैली, शब्द-ग्रहण और शब्द-चयन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी दृश्य-चित्रण में विशेष सफलतापूर्वक सात्म शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनके काव्य में शब्दों का चयन सुन्दर है और उनमें यथासंभव भरती के प्रयोग नहीं।

शैली भावों को व्यक्त करने का साधन है और इसकी साधना जिन दो रूपों के द्वारा हुआ करती है, उनमें से एक (भाषा) के ऊपर विचार किया जा चुका। दूसरे (भाव) के अन्तर्गत और अन्य बातों के साथ अलंकारों की प्रधानता होती है। अलंकार वर्ण्य नहीं, इसी कारण वे वस्तु के भाग नहीं समझे जा सकते। यही एक दृष्टिकोण है जिससे अलंकारों को शैली के अन्तर्गत माना जाता है। मनुष्य के मस्तिष्क के समक्ष किसी भी भाव को केवल शब्दों के द्वारा ही नहीं रक्खा जा सकता। इस विराट जगत् के सम्बन्धों को मानसिक जगत् की अनुरूप स्मृतियों को जागरित करके उनके साम्य अथवा

विरोध के आधार पर हम किसी भी दूसरे भाव को स्पष्टतर तीव्र, प्रभावोत्पादक, शक्तिमान एवं हृदयस्पर्शी बना सकते हैं। वस्तु मे इन गुणो का लाना शैली का ही कार्य हो सकता है।

अलङ्कार—भारत की संस्कृत आचार्य-परम्परा ने साहित्य-शास्त्र पर विचार करते हुए लिखा है कि 'अलङ्कार अङ्गदादि वत्'—आभूषण जिस प्रकार शरीर के बाहर की वस्तु हैं उसी प्रकार अलङ्कार भी है। इस दृष्टि से अलङ्कारों का उतना महत्व नहीं रह जाता जितना आजकल का विकसित दृष्टिकोण समझता है। अलङ्कार निस्सन्देह व्यर्थ नहीं अवश्य हैं और सच-मुच ही शैली के एक अङ्ग हैं। वे साधन हैं साध्य नहीं। पर जिस प्रकार शरीर, जो आत्मा की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है, अवहेलनीय अथवा केवल आत्मा को सजाने वाला पदार्थ नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार अलङ्कार भी केवल भाव को सजाने के लिए नहीं आते वरन् वे उसकी अभिव्यक्ति के सहज सहायक सखा की भाँति आते हैं। गुप्तजी में हम इन दोनों ही दृष्टिकोणो की ओर प्रवृत्ति देखते हैं। कहीं तो वे अलङ्कारों का प्रयोग भाव को सजाने के लिए करते है और कहीं उनके अलङ्कार स्वाभाविक सहचर की भाँति एक भाव के साथ आकर उसकी अभिव्यक्ति को प्राञ्जल कर देने में सहायक होते हैं। हो सकता है कि इस प्रकार की मिश्रित प्रवृत्ति कवि ने सभी ओर अपनी शक्ति आजमाने के लिए ग्रहण की हो अथवा इस प्रकार वह केवल अपने ही समय का नहीं हिन्दी साहित्य भर का प्रतिनिधि बनने की आकान्क्षा रखता हो।

सजाने के लिये जहाँ अलङ्कारो का प्रयोग किया जाता है वहाँ अलङ्कार प्रधानता ग्रहण कर लेता है और वस्तु अलङ्कारों की सुन्दरता में अपना यथार्थ स्वरूप मन्द कर देती है। वस्तु के स्थान पर अलङ्कार मुख्य हो जाता है। तब अलङ्कार के बोझ,

मे वस्तु का ठीक ज्ञान नहीं होता, इस कारण भावों का परिपाक भी ठीक नहीं हो पाता। अलङ्कारो का प्रयोग किसी व्यापार, क्रिया, रूप अथवा घटना की तीव्रता, प्रभाव अथवा सामर्थ्य दिखलाने के लिये हुआ करता है। यदि अलङ्कार इनमे से किसी भी कार्य को सम्पादित न कर सके तो वह बोझ के सदृश ही होगा। उसकी कल्पना असुन्दर समझी जायगी और निस्सन्देह वह भावो का सहायक न होकर बाधक ही होगा। यद्यपि गुप्तजी स्वाभाविक अलङ्कारो का प्रयोग भाव-साधक की भाँति करते हैं, फिर भी कहीं-कहीं सजावट भर के लिये भी अलङ्कारो ने आकर व्याघात उपस्थित कर दिया है। जैसे—पञ्चवटी को नाटक का रूप दिया है :—

नाटक के इस नये दृश्य के, दर्शक ये द्विज लोग वहाँ।
करते थे शाखा सनस्थ वे, समधुप रस का भोग वहाँ॥
झट अभिनयारम्भ करने को, कोलाहल भी करते थे।
पञ्चवटी की रङ्ग-भूमि को, प्रिय भावों से भरते थे॥

साकेत मे उर्मिला के विरह की भूमिका मे यह छन्द भी ऐसा ही है :—

उस रुदन्ती विरहिणी के हृदय-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कवि जनों के ताम्र-पत्र सुवर्ण के।

यहाँ अलङ्कारों मे कृत्रिमता है। वह स्वाभाविक उल्लास नहीं जो इसके पहले के छन्द मे है—

हँसने लगे कुसुम कानन के······· ॥६७॥ (पंचवटी)

अथवा—

गोल कपोल पलट कर सहसा, बने भिड़ों के छत्तो से।
हिलने लगे उष्ण साँसों से, ओंठ लपालप लत्तों से॥

कुन्द कली से दाँत हो गए, बढ़ वराह की दाढ़ों से।

अथवा

रत्नाभरण भरे अंगों में, ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ, जुगनू जगमग जगते थे।
कटि के नीचे चिकुर जाल में, उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से, लोल कमल भौंरों के साथ।

ऐसी स्वाभाविक उत्फुल्लता न होने से ध्यान अलङ्कारों में ही रह जाता है, जैसे—

एक बार अपने अङ्गों की, ओर दृष्टि उसने डाली।
उलझ गई वह किन्तु बीच में, थी विभूषणों की जाली।

अलङ्कारो के सम्बन्ध मे एक बात और कथनीय है। गुप्तजी ने परम्पराभुक्त अलङ्कारो का प्रायः कम ही प्रयोग किया है। बहुधा उन्हे भी नए ढङ्ग से रक्खा है। फिर भी उन्होने कवि-प्रथा का बिलकुल त्याग नहीं किया और परम्पराप्रदत्त आदर्श उपमानो को भी कहीं लाकर रख दिया है—

टाँगा धनुष कि कल्पलता पर, मनसिज ने झूला डाला।

किन्तु ऐसा कम ही हुआ है।

जहाँ कवि ने विरह आदि का प्राचीन परिपाटीभुक्त वर्णन किया है, वहाँ कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। उर्मिला के विरह मे कवि ने लिखा है :—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से।
और पकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से॥
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हो विभूषण कर्ण के।
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?

इसमे स्वर्ण रसायन सिद्ध की गई है—

पहले आँखों में थे, मानस में, कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े, अश्रु वे कब थे?

यहाँ पर भी सहेतुक अपन्हव एवं श्लेष के सहारे अद्भुत बात-सी कही गई है जिसमें करुण रस से बाधा पड़ती है। कवि ने अलङ्कारों का प्रयोग आगे भी किया है, किन्तु वहाँ रसोपयुक्त होने के कारण वह भावों को रस की दिशा में प्रधावित करने में सहायक हुआ है। ऐसे स्थानों पर अलङ्कार अपनत्व भूल जाता है और भाव ही प्रधान होता है।

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक-बुद्‌बुद दे रहा।

'लोहित लेख' की क्रूरता, उसकी अङ्गार-सी लालिमा, उर्मिला की पीड़ा के अनुकूल है और 'व्योम-सिन्धु' में 'तारक-बुद्‌बुद' की उत्प्रेक्षा तो रीते हृदय की उच्छ्वसित चञ्चल भावोद्‌गारिता का कुछ हलका सा अनुमान करा रही है, अतः ऐसे स्थान पर इतना भारी अलङ्कार भी भावाभिव्यक्ति का सहायक है।

हिन्दी के इस नये युग से पहले तक अलङ्कार-प्रणाली में वर्ण्य और अवर्ण्य अधिकांश मूर्त और स्थिर रहते थे। वे इतने रूढ़ और स्पष्ट भी होते थे कि कवि और काव्य के लिये उनमें स्फूर्ति और रस-सौष्ठव नहीं रह गया था। पढ़ने पर उनसे रसोद्‌भव की अपेक्षा कौतूहल अधिक होता था। सूर और तुलसी ने अधिकांश अलङ्कारों में मूर्त और रूढ़ अवर्ण्यों का आश्रय लिया, किन्तु वे महाकवि थे। उनमें वे मूर्त और रूढ़ वस्तुएँ भी नये जीवन के साथ अपनी पूर्ण सार्थकता सिद्ध करती हैं। वर्तमान हिन्दी-युग किसी वस्तु के मूर्त आकार-प्रकार रूप-रङ्ग और रेखा तक अपने अलङ्कारों को सीमित नहीं रखता। वह सीता और राम अथवा नायक और नायिकाओं के रूप को ही नख से शिख तक स्पष्ट करने में नहीं लगा रहना चाहता। वह अब इन वस्तुओं के अन्तर को देखता है और मानव के व्यापक मस्तिष्क की अनन्त और असीम भाव-धारा में उन वस्तुओं की

भावात्मक रूप-रेखा—कुछ अमूर्त, पर सहारे के लिए कुछ मूर्त—कैसी प्रतिभात होती है, इसका चित्रण करता है'। गुप्तजी ने भी इस प्रकार की अलङ्कार शैली की बिलकुल अवहेलना नहीं की, और जहाँ तक वे 'जन देव' के साथ चल कर उसे काम मे ला सके हैं, लाए हैं। 'द्वापर' मे 'गोपी' का वर्णन कुछ वैसा ही है। उर्मिला-रुदन मे भी हमे नवोन्मेष के दर्शन होते हैं, जहाँ उसके कथनों में भावोद्भास का विस्तार साधारण परिपाटी और परिस्थिति से उस पार चला गया है। किरण को देख कर उर्मिला कहती है—

भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?
झाँक झरोखे से न लौट जा, गूँजें तुझसे तार जहाँ।
मेरी वीणा गीली गीली,
आज हो रही ढीली ढीली।

इस गीत में किरण की प्रकृत रूप-रेखा का ज्ञान नहीं होता। एक सौजन्यमय भाव की झाँकी उसमे मिलती है। कोकिल की कूक मे भी एक ऐसी ही, भावो को सुदूर आकर्षित कर ले जाने वाली, हूक मिलती है :—

उठती है उर में हाय ! हूक,
ओ कोयल, कह यह कौन कूक ?
क्या ही सकरुण, दारुण, गभीर,
निकली है नभ का चित्त चीर,
होते हैं दो दो दृग सनीर,
लाती है लय की एक लूक !
ओ कोयल, कह, यह कौन कूक ?

नीचे के पद्य मे भी भाव प्रकृत का साथ छोड कर विस्तृत हो गया है। 'प्रिय' का सम्बोधन लक्ष्मण तक न रह कर उनसे कहीं और आगे किसी के लिए किया गया-सा प्रतीत होता है:—

सखि, बिखर गई हैं कलियाँ,
कहाँ गया प्रिय झुकाझुकी में करके वे रँगरलियाँ?
भुला सकेगी पुन: पवन को अब क्या इनकी गलियाँ?
यही बहुत ये पचें उन्हीं में जो थीं रंग स्थलियाँ।

इस प्रकार कुछ उदाहरणों से हमें यह विदित होता है कि कवि ने अलङ्कारों का प्रयोग विभिन्न शैलियों में किया है। प्राचीन परिपाटी को नवीन रूप दिया गया है और नवीन प्रणाली के आयास को संयत कर दिया गया है।

वस्तु में आकर्षण लाने की शैलियाँ—गुप्तजी ने कला का अर्थ ही यह रखा है:—

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला

इसके अनुरूप उन्होंने जिन शैलियों का आश्रय लिया है, उनका दिग्दर्शन यहाँ तक हो गया है। वस्तु को उपस्थित करने में कवि ने उनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य साधनों का उपयोग किया है।

एक तो कवि में 'नाटकीय शैली' का प्रयोग है। चित्रपट और पात्र का अलग-अलग और सुन्दर विधान गुप्तजी में प्रचुर मात्रा में है।

उन्होंने जीवन की जिन अवस्थाओं का चित्रण किया है वह आधुनिक मनोवृत्ति के अनुकूल है। लक्ष्मण और उर्मिला का प्रथम दर्शन 'साकेत' में, राम, लक्ष्मण एवं सीता का वार्तालाप 'पञ्चवटी' में; सीता की अपनी कुटी की परिचर्या 'साकेत' में। इसी प्रकार पात्रों के कथनों में वार्तालाप की आधुनिक शैली दृष्टिगोचर होती है। 'यशोधरा' में इस नाटकीय शैली युक्त काव्य का पूर्ण विकास मिलता है। आगे द्वापर में यह पात्रों के वार्तालाप रूप में न रह कर 'स्वगत कथन' का रूप ग्रहण कर लेती है।

फिर कवि ने केवल छन्दों का ही उपयोग नहीं किया, 'गीतों' का भी आश्रय लिया है। छन्दों में सतुक कविता ही विशेष है,

अनुवादित 'मेघनाद वध' को छोड़ कर उनकी मौलिक रचनाओं में 'सिद्धराज' भी अतुकान्त है और कवि ने गीतों में गीति-काव्य के सभी गुणों को आधुनिक दृष्टि से उपस्थित करने का उद्योग किया है।

मानस चित्र और मानसिक अवस्थाओं के चित्रण मे कुशलता से काम लिया है—कैकेयी के मत का परिवर्तन केवल इस सन्देह के विष से हो गया है कि:—

'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह'

ऐसे स्थलों पर जहाँ मर्यादा की रक्षा का प्रश्न सामने हुआ है, कवि ने मानस-चित्र उपस्थित कर काम चलाया है।

लक्ष्मण ने उर्मिला से इसी प्रकार अपने मानस में आज्ञा माँगली है। उर्मिला ने भी समझ लिया है। इसी कारण उसने वन जाने का प्रस्ताव और हठ नहीं किया।

कवि ने आकर्षक स्थल की अवतारणा से अपना काव्य आरम्भ किया है। वह राज्यारोहण का काल है। इससे पूर्व का चरित्र भी कवि उपस्थित करना चाहता है। इसके लिये उसने उपाध्यायजी के 'प्रियप्रवास' की शैली का अनुकरण किया है। उसमे जिस प्रकार विविध गोप गोपी कृष्ण के दुःख में उनके बालचरित्र को स्मरण करते हैं, उसी प्रकार उर्मिला वियोग मे पहली बातों का स्मरण करती है। वह रात्रि मे कलनादिनी सरयू से बात करती है। वह राम और लक्ष्मण के सारे पूर्व चरित्र का पुनरावर्तन कर जाती है।

वियोगावस्था मे विक्षिप्त की भाँति उर्मिला सरयू को संबोधन कर अपने हृदयोद्‌गार प्रकट करती है। यह कवि मे नवोन्मेष है। यह तुलसी के राम के विलाप की भाँति नही।

दिव्य दृष्टि से भी कवि ने इसी कौशल की भाँति काम लिया है। कवि सारी अयोध्या को लका को नहीं ले जाना चाहता

था और यह भी उसे उचित न प्रतीत हुआ कि लक्ष्मण के आहत होने का संवाद और सीता की चोरी का संवाद सुनकर अयोध्या निष्क्रिय बैठी रहे। अयोध्या की उत्तेजना, उर्मिला का वीर-वेश आदि भी प्रकट हो जायँ और व्यर्थ का आयास भी न बढ़ जाए, इस उद्देश्य से उसने वशिष्ठ की दिव्य-दृष्टि की कल्पना की।

नाटकों में पताका स्थानकों की भाँति गुप्तजी के काव्य में ऐसी सामग्री मिलती है जो वस्तु में आकर्षण उत्पन्न कर देती है। ऊपर तो केवल कुछ ही ऐसे कौशलों का उल्लेख किया गया है। इतना ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उपरोक्त कौशलों के उपयोग से आकर्षण आगया है, किन्तु वे केवल आकर्षण-मात्र के लिए नहीं लाये गये। उनका विधान कला की पूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से सौन्दर्य, चरित्र, सुविधा और जीवन-व्याख्या के अपने दृष्टि-विन्दु को प्रस्तुत करने के लिए हुआ है।

वस्तु-विवेचन

विषय

विषय-वर्णन में मौलिकता विशेष अपेक्षणीय है। मौलिकता से तात्पर्य कोरी कल्पना की उड़ान से नहीं। मौलिकता का अर्थ यह नहीं कि वर्णित विषय ऐसा हो जिस पर आज तक किसी ने कुछ न कहा हो, वह एक दम नवीन तथा आश्चर्यजनक हो। इस रूप में तो कोई भी—सूर और तुलसी भी मौलिक न रह जायँगे। वास्तव में मौलिकता से तात्पर्य यह है कि वर्णित विषय को, चाहे वह कितना ही प्रसिद्ध अथवा प्रचलित क्यों न हो, लेखक या कवि अपना बना डालने में समर्थ हो, वह उसको अपना रंग देकर एक नवीनता एवं चमत्कार से युक्त कर सके। प्रसिद्ध कथानक को भी परिवर्तन द्वारा अपने दृष्टिकोण के अनुरूप बना लेना भी मौलिकता ही है। इस प्रकार गुप्तजी के विषय भी मौलिकता से युक्त होते हैं। रामायण, महाभारत, पुराणादि प्रसिद्ध घटनाएँ उनके द्वारा नवीन साँचे में ढलकर मौलिक रूप में हमारे सामने आती हैं।

रामचरित में पञ्चवटी का एक विशेष महत्व है और उसमें भी शूर्पणखा वाला उप-कथानक तो और भी विशेष चमत्कारपूर्ण है। तुलसीदासजी ने उसे केवल पताका स्थानक (Episode) की तरह लिखा है। उन्होंने उसमें कहीं भी काव्य-कौशल दिखलाने की चेष्टा नहीं की। बहुत जल्दी उस कथानक को समाप्त

करने की धुन में ही संभवत. ऐसा किया गया है। इस कथानक मे यदि तुलसीदासजी ने उदार भावना से कुछ और गहरे पैठ कर देखने की चेष्टा की होती तो शूर्पणखा और राम-लक्ष्मण की भावना के घात प्रतिघातों को वे चित्रित करते और एक मार्मिकता आजाती, परन्तु उन्हें अवकाश नहीं था। गुप्तजी ने आज दिन की सभ्यता के प्रभाव में शूर्पणखा, लक्ष्मण और राम को अपने हाथ की कठपुतली न समझकर उनके हृदय में पैठने की चेष्टा की है और शूर्पणखा, लक्ष्मण और राम-सीता के हृदयों में ऐसे वातावरण में जो विकार उत्पन्न होते, उन्हें दिखलाने की चेष्टा की है। परिस्थितियों के अनुकूल ही स्वाभाविकता लाने के लिये उन्होंने कथानक में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। तुलसी और गुप्तजी दोनों के कथानकों की तुलना से ये बातें स्पष्ट होती हैं :—

(१) मैथिलीशरण गुप्त ने तुलसी के प्रतिकूल शूर्पणखा के आने का समय रात्रि का अन्तिम प्रहर माना है।

(२) गुप्तजी ने लक्ष्मण को अकेला दिखला कर उनकी मनो-भावनाओं का मधुर चित्र सामने रक्खा है। (इस प्रकार का एकान्त मनस वार्तालाप (Soliloquy) पुराने कवियों मे तो कभी नहीं मिलने का)।

(३) फिर मैथिलीशरण ने शूर्पणखा को पहले अकेले लक्ष्मण से ही मिलाया है। दोनों से एक साथ नहीं।

(४) प्रस्ताव दोनों ने ही, जैसा होना चाहिए, शूर्पणखा द्वारा ही कराया है परन्तु गुप्तजी का प्रस्ताव विशेष स्वाभाविक-सा हुआ है।

(५) रामचन्द्रजी को देख कर उनके रूप के कारण वह उन पर मोहित होकर उन्हींको वरमाला पहनाने लगती है। क्रम उलट जाता है। मानस मे पहले प्रस्ताव राम से किया गया है

और लक्ष्मण से राम के कहने पर, परन्तु 'पंचवटी' मे पहला प्रस्ताव लक्ष्मण से है। उनके अस्वीकार कर देने पर राम मे कुछ कोमलता देख कर स्वाभाविक प्रेरणा से तब उनसे प्रस्ताव किया गया है।

(६) मानस मे राम के कहने से जब वह लक्ष्मण की ओर जाती है तो लक्ष्मण उसे यह कह कर राम की ओर लौटाते हैं कि मैं तो दास हूँ। दास की स्त्री होकर रहना ठीक नहीं, पर गुप्तजी के लक्ष्मण जब उसे राम की ओर लौटाते हैं तो एक आदर्श के सहारे ऐसा करते हैं। वे कहते हैं कि तुमने 'पूज्य आर्य को वरा' अतः मेरे लिए तुम पूज्य तुल्य होकर अग्राह्य होगई हो। इसी तर्क से फिर राम भी उसे निरुत्तर कर देते हैं।

(७) तुलसीदासजी ने एक उपन्यासकार की तरह अपने शब्दों मे ही शूर्पणखा का परिचय देकर उसका सारा आकर्षण क्षुब्ध कर दिया है। 'सूपनखा रावण कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुण जस अहिनी।" गुप्तजी ने उसका नाम तक नहीं बतलाया। जब वह वास्तव में भयंकर रूप धारण कर लेती है तब उन्होंने केवल इतना सकेत किया है :—

> देख नखों को ही जँचती थी,
>
> वह विलक्षिणी शूर्पणखा।

गुप्तजी ने अपनी ओर से कुछ कह कर हमारे दृष्टिकोण को पहले से ही बाँध नहीं दिया। उनके कथन, कृत्य और चरित्र को देख कर उसके विषय मे कोई धारणा बनाने का स्वतंत्र अधिकार पाठकों पर छोड़ दिया है। पाठकों के इस अधिकार को उन्होने छीना नहीं है।

कथानक को अपने अनुकूल करने की प्रवृत्ति 'साकेत' मे और भी अधिक है। उसमें 'वरदान' की बात मन्थरा अथवा कैकेयी के द्वारा नहीं होती। स्वयं दशरथजी उनका स्मरण दिलाते

हैं। इस विधि से दशरथजी की उदारता और कैकेयी पर विश्वास विशेष प्रकट होता है। 'साकेत' में राम बुलाए नहीं जाते, वे स्वयं लक्ष्मण के साथ पितृ-दर्शन को जाते हैं। यह परिवर्तन राम के स्वभाव के अनुकूल है। राम जैसा पुत्र अवश्य ही नित्य पितृ-दर्शन करने जाया करता होगा। सुमन्त्र तो लौटते समय राम और लक्ष्मण को मिलते हैं। 'साकेत' में राम और लक्ष्मण एक साथ सीता और कौशल्या को पाते हैं। कौशल्या उस समय पूजा पाठ में लगी हैं और सीता एक सुवधू के समान उनकी सहायता करती मिलती हैं। वहीं कौशल्या-भवन में सुमित्रा और उर्मिला भी आ उपस्थित होती हैं। उसी स्थान पर लक्ष्मण को भी आज्ञा मिल जाती है। सीताजी ने पहले कुछ नहीं कहा, जब वल्कल वस्त्र आगए तो उन्हें पहनने के लिए सबसे पहले सीता ने ही हाथ बढ़ाया और तब सीता को समझाने और रोकने का विफल प्रयत्न किया गया।

राम वन को गए। वहाँ भरतजी भी उनसे मिलने पहुँचे। उर्मिला भी साथ गईं। बड़े कौशल से सीता ने लक्ष्मण को उर्मिला से अपनी कुटी में मिला दिया। बड़ा मार्मिक मिलन था। दोनों ने दोनों के व्रत की रक्षा की।

कवि ने साकेत' में हनुमान को हिमालय तक जाने का कष्ट नहीं दिया। जाते समय ही भरत ने उन्हें बाण से गिरा दिया। संजीवनी बूटी भरत के पास ही थी। उन्हें एक साधु पहले ही दे गया था। उसका उपयोग हनुमान पर भी किया गया और वही संजीवनी लेकर हनुमान लङ्का को लौट गए। तब सारा अवध ही लंका जाने को तैयार हो गया। ठीक ही है। राम को कष्ट में सुन कर भी क्या वह चुप रहता। पर वशिष्ठजी ने चलते समय दिव्य दृष्टि देदी जिससे सबने रावण-संहार देखा। तब कहीं अयोध्या शान्त हुई।

ये परिवर्तन कवि ने दो दृष्टियों से किए हैं। एक तो स्वभाविकता लाने के लिए यथा, हनुमान से लंका में राम और लक्ष्मण की अवस्था सुन कर भरत और शत्रुघ्न का हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना बहुत ही खटकने वाली बात होती। अतः कवि ने वह उत्तेजना दिखाई। अयोध्या की सजीव स्फूर्ति और राम-प्रेम का इससे बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित होता है।

दूसरे, कवि ने ऐसे परिवर्तनों से कथा-प्रवाह में रोचकता लाने का प्रयत्न किया है। वशिष्टजी की दिव्य-दृष्टि से यह काम सफल हुआ है। उन्होंने इस बहाने बिना लङ्का जाए ही सारा राम-वृत्त वर्णित कर दिया है।

इस प्रकार के परिवर्तन करना कोई नई बात नहीं। संस्कृत मे भी भवभूति आदि महाकवियों ने अपने कथा-प्रवाहानुकूल कथानक में परिवर्तन करना उचित समझा। वैसा ही गुप्तजी ने भी किया है।

'यशोधरा' का कवि ने कोई विशेष कथानक सूत्र तथा क्रम नहीं रखा। सबसे पहले हमे सिद्धार्थ विचार मग्न मिलते हैं, तब वे यह निश्चय करते हैं मैं मुक्ति-निमित्त निकलूँगा, और तब एक गीत से उनका महाभिनिष्क्रमण हो जाता है।

हे राम, तुम्हारा वंश जात,
सिद्धार्थ तुम्हारी भांति तात,
घर छोड़ चला यह आज रात,
आशीष उसे दो, लो प्रणाम,
ओ क्षण भंगुर भव राम राम !

इसके अनन्तर 'यशोधरा' का वियोग, नन्द और महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छन्दक, राहुल आदि का वियोग और कथनोपकथन मिलता है, जिसके द्वारा यशोधरा की मनोवस्था अधिकाधिक स्पष्ट होती चली जाती है, अन्त में सिद्धार्थ बुद्ध

होकर मगध पहुँचते हैं। यह प्रस्ताव किया जाता है कि सब मगध में जाकर ही बुद्ध के दर्शन करें—यशोधरा भी चले। पर यशोधरा नहीं जाती। उसका तर्क है कि—

हाय अम्ब! आप मुझे छोड़कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे।

तब अन्त में 'बुद्ध' यशोधरा से उसके अपने भवन में ही मिले—गोपा से एक सखी ने कहा कि 'प्रभु उस अजिर में आ गये, तुम कक्ष में अब भी यहाँ?' तो गोपा (यशोधरा) ने उत्तर दिया—

सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय! वहाँ कहाँ?
गोपा वहीं है,–छोड़कर उसको गये थे वे जहाँ—

और 'सिद्धार्थ' गोपा को जहाँ छोड़ गये थे उन्हें वहीं उससे मिलना पड़ा।

सिद्धराज की ऐतिहासिक कहानी के सम्बन्ध में कवि ने 'निवेदन' में स्वयं यह सूचना दी है :—

"पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक है, परन्तु उनका क्रम सन्दिग्ध है। इसलिए लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है। जो अंश काल्पनिक हैं, वे आनुसंगिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती।"

इस ऐतिहासिक वृत्त में से कवि ने विविध-स्थल ही चुने हैं—सिद्धराज की माता सोमनाथ दर्शन को जा रही हैं कि जुझौती की एक क्षत्राणी अपने पुत्र को लेकर उसके सामने आती है और कहती है कि सोमनाथ पर जो राज-कर लगता है उसके कारण बहुत से मनुष्य लौटे जा रहे है :

राज-कर लगता है यात्रियों से, उसको
दे जो नहीं सकते हैं, लौटा दिये जाते हैं—

दर्शन विना ही ······

मैंने इस राजकर की आलोचना की, तो पकड़ कर आपके समक्ष ले आये गये। राजमाता ने उनका आदर किया, और स्वयं लौट पड़ीं, पर जब जयसिंह ने वह मन्दिर-कर मुक्त कर दिया तब वह दर्शन को गयीं। इसी बीच मे मालव का राजा नरवर्मा पाटन-सिद्धराज की राजधानो पर चढ़ आया और मन्त्रिवर से सिद्धराज की सोमनाथ-यात्रा का फल ले गया। सिद्धराज को वृत्तान्त विदित हुआ तो वह मालवे पर चढ़ गया—बरसों लड़ाई हुई, नरवर्मा एक रोग से मर गया। यशोवर्मा ने भी युद्ध जारी रखा, किन्तु अन्त मे हारा।

सोरठ के राना नवघन को जयसिंह का अपमान सहना पड़ा, मरते समय उसने पुत्रो से कहा कि वही मेरी गद्दी ले जो मेरा वैर-शोध कर सके। पुत्र चुप रहे पर उसके पौत्र खङ्गार ने उसकी प्रतिज्ञा की। पुत्रों ने गद्दी छोड दी, पौत्र राजा हुआ। सिन्धुराज के एक पुत्री हुई, उसके अशुभ ग्रह थे, अतएव उसे राजदम्पत्ति ने त्याग दिया। एक कुम्हार ने उसे पाला, सोरठ मे ले जाकर। वह युवती हुई तो उसका यश फैला। सिद्धराज जयसिंह उससे विवाह करने को प्रस्तुत हुआ, पर खङ्गार ने वैर-शोध का अवसर समझ कर उस लड़की रानकदे से जाकर स्वयं विवाह कर लिया। जयसिंह का प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। इससे जयसिंह को बड़ा क्षोभ हुआ। वह सोरठ पर चढ़ गया। खङ्गार को उसने मार डाला, और रानकदे के पुत्रो को भी। तब उसने रानकदे को बलपूर्वक वश मे करना चाहा, पर न कर सका। रानकदे सती हो गई।

तब राजा उदास हो गया, बहुत दिन बाद उसने सपादलक्ष पर चढ़ाई की। वहाँ के राजा अर्णोराज को बन्दी बना ले गया। अर्णोराज पर जयसिंह की पुत्री काञ्चनदे मुग्ध हो गयी। दोनों

का विवाह कर दिया गया।

फिर उसने महोवे के मदन वर्मा का यश सुना। वह उस पर चढ़ गया। वहाँ उसे वही वीर मिला जिसे बाल्यावस्था में सोमनाथ जाते हुए उनकी माता ने आदर दिया था और जयसिंह ने अपनी तलवार भेंट की थी। उससे मिलकर जयसिंह ने लड़ने का विचार छोड़ दिया और मदन वर्मा से जाकर प्रेमपूर्वक मिला और महोवे के ऐश्वर्य को देखा। मदन वर्मा की बातें बहुत तात्त्विक थीं—

देखता था सिद्धराज विस्मय से, श्रद्धा से,
भोगी है मदन वर्मा किंवा एक योगी है?

और 'द्वापर' में भी कोई एक सूत्रबद्ध कथा नहीं, कृष्ण सम्बन्धी विविध जन अपने-अपने मन के भावों को कृष्ण के अर्थ उक्तियों के साथ व्यक्त करते हैं, विविधि घटनाओं का नयी दृष्टि से उल्लेख करते हैं।

'नहुष' में कथा तो है पर बहुत छोटी—नहुष को इन्द्रासन दे दिया गया है, वह अपना कर्तव्य करने में संलग्न है, पर वहाँ करने को ऐसा कितना है। एक दिन इन्द्राणी शची उसको दीख जाती है, वह मुग्ध हो जाता है और प्रस्ताव करता है कि मैं इन्द्र हूँ, इन्द्राणी को मुझ से मिलना चाहिए। इन्द्राणी भयभीत होती है। गुरुजनों से परामर्श करती है और कहती है कि अच्छा यदि नहुष मिलने आना चाहता है तो ऋषियों से पालकी उठवा कर आये। नहुष ने आज्ञा दी, ऋषियों ने पालकी उठायी, पर उन विचारों से चला कहाँ जाता था—नहुष उतावला हो रहा था। उसने रोष से पैर पटके और वह एक ऋषि के जा लगा। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर उसे साँप होने का शाप दिया।

ये सभी विषय कवि ने विषयों की रोचकता देख कर तो चुने ही हैं, किन्तु वस्तुतः चुने हैं इसलिए कि उनकी कथाओं

में जो अर्थ लग सकता है उसकी भारत को आज भी आवश्यकता है। उर्मिला और यशोधरा के विलाप और मान को कवि ने केवल विलाप और मान के लिए, विरह का विदग्ध वर्णन करने के लिए नहीं दिखाये,—सिद्धराज के चरित्र को विविध झाँकियाँ, द्वापर के विविध व्यक्तियों का अपना हृदयोद्‌गार, नहुष में नहुष तथा शची के रूप-रेखा की दृष्टि से, ढाँचे मे ही प्राचीन हैं, उन पर कवि ने नया रङ्ग, नया चर्म, नया हाड़-माँस चढ़ाया है और नया जीवन दिया है।

प्रकृति

मनुष्य ने जब आँख खोली तब उसने सबसे पहले प्रकृति ही को देखा। तब से लेकर आज तक मनुष्य और प्रकृति का घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा है। यही विस्तृत प्रकृति अपने नाना प्रकार के रूप रङ्गों के साथ अबोध मनुष्य के सामने पुरानी होकर भी प्रतिदिन नई है। हर क्षण मे उसमें विचित्र व्यापार घटते रहते हैं। उनका जो संस्कार मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ता है वह कभी एकसा नहीं हो सकता। इसीलिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए प्रकृति भिन्न भिन्न रूपों में उपस्थित होती है। वैदिक काल के ऋषियों ने उसमे जो शक्ति पाई वह उपनिषदों को नहीं दीखी। पुराणों में वह कुछ और ही रूप में ग्रहीत हुई। तात्पर्य यह है कि प्रकृति का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण किया गया। कवि प्रकृति का प्रतिनिधि अथवा व्याख्याकार है। उसके सामने प्रकृति कई रूपों में उपस्थित होती है। कभी वह प्रकृति को बहुत ही साधारण अथवा तुच्छ समझता है। वह भ्रम अथवा माया की तरह उसके समक्ष उपस्थित होती है; उसके लिए मानवता ही सब कुछ है। उसको मानव जीवन और प्रकृति में कोई विशेष घनिष्ट संबंध नहीं दीखता। ऐसे कवि के वर्णनों मे प्रकृति का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता।

कोई प्रकृति को मानव-जीवन के विकास की गोद, उसकी क्रियाओं की सहायक एवं उसकी सुन्दरता का आदर्श समझता है। वह प्रकृति के व्यापारों, उसकी क्रियाओं, उसके द्वारा उपस्थित किए गए चित्रों और दृश्यों को देखकर उनमें से मानव-जीवन के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उसके कार्य-व्यापारों की गति और उसके मनन-चिन्तन की प्रक्रियाओं को उदाहरण, सादृश्य, विरोध, अन्वय, व्यतिरेक आदि से पुष्ट, परिमार्जित, प्रभावक, उद्दीपक एवं तीव्र बनाने के लिए अलंकार अथवा अवर्ण्य रूप में ग्रहण कर लेता है।

रत्नाभरण भरे अंगों में
　　ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ
　　जुगनू जगमग जगते थे।

×　　×　　×　　×

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
　　दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा
　　मानो छवि से छलक रही।

×　　×　　×　　×

किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती
　　मानो उसे पा चुकी थी।
भूली भटकी मृगी अन्त में
　　अपने ठौर आ चुकी थी।

शरीर और गहनों के पारस्परिक संबंध और उनकी एकान्वितिमय सुन्दरता की छवि को हृदयंगम कराने के लिए प्रकृति का एक सुन्दर दृश्य आँखों के सामने उपस्थित कर दिया। वस्तुस्थिति

का परिमार्जन होकर प्रकृति के सुन्दर उदाहरण के साथ प्रभाव बढ़ गया।

इसी प्रकार अतृप्त वासना की झलक एक गूढ़ वस्तु न रह कर-कमलो की मधुरिमा की छवि के रूप में झलक पड़ी है। झलक का भाव रूप धारण करके उसको वास्तविक बना देता है। अन्तिम पंक्ति मे दृष्टि की गति का लक्ष्य और उसका स्वभाव—मृगी-सा हमारे सामने प्रत्यक्ष झूलने लगता है।

इसी प्रकार

> लता कण्टकनि हुई ध्यान से ले कपोल की लाली
> फूल उठी है हाय! मान से प्राण भरी हरियाली
>
> (यशोधरा)

मे 'कण्टकनि' शब्द के श्लेष से 'कपोल-लाली' के उपमान से लता के गुलाव-पुष्प शोभा के व्याज मे 'बनमाली' के रूप मे 'यशोधरा' जैसे गौतम को ही बुला रही हैं। 'कूक उठी है कोयल काली' में एक अलंकार से हृदय की विदग्ध करुणा और प्रोषित पतिका की छटपटाहट मानस-चित्र का रूप ग्रहण कर लेती है, वह प्रकृति के कारण होती।

कही प्रकृति का वर्णन इस प्रकार अङ्गी, अलङ्कार अथवा अवर्ण्य की तरह न होकर घटना-स्थली की वस्तु-वर्णन की विधि के अनुकूल दृश्य-चित्रण (Scenery) की भाँति उपस्थित किया जा सकता है। प्रकृति का वर्णन वस्तु की भाँति होरहा है। वह वर्णन किसी मानवीय घटना के लिए एक क्षेत्र उपस्थित करने के हेतु होता है। वह मानव-पात्रों के रङ्गमञ्च पर उतरने से पूर्व भूमिका के सदृश होता है। प्रकृति का वर्णन यहाँ इसलिए नहीं होता कि कवि प्रकृति को मानव समुदाय के समान स्थान देता है वरन् भोक्ता के भोग्य का यथार्थ रूप रखने के लिए वह उसका रूप चारुता से चित्रित करता है। प्रकृति के इस रूप को सुन्दर

और सुष्ठु बनाने के लिए, उन्हे गतियुक्त कर देने के लिए, वह उनमें मानवीय व्यापारों का आरोप कर देता है :—

चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें
खेल रही हैं जल थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोकों से।

इस वर्णन में प्रकृति मानवीय व्यापारों से युक्त, प्रमोद एवं आनन्द में विभोर और स्निग्ध गतियुक्त उपस्थित होती है। यह राम-निवास पञ्चवटी के शान्त वातावरण और उल्लास को प्रकट करती है। कवि ने प्रकृति का वर्णन आगे की कथा की भूमिका के रूप में किया है। मानवी क्रियाओं और व्यापारों से युक्त रहते हुए भी यह प्रकृति स्थिर (Static) है। उसमे गति है पर पत्थर के अणुओं की तरह अपने ही ढेर में। उसमें कोई चेतना नहीं, कोई आकांक्षा नहीं।

'सिद्धराज' के आरम्भ में भी हमे ऐसी ही प्रकृति के सौन्दर्य के दर्शन मिलते हैं—

सन्ध्या हो रही है नील नभ में, शरद के,
शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के,
स्वर्ण के कलश पर अस्तङ्गत भानु का,
अरुण प्रकाश पड़ झलक रहा है यों,
छलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यों

और इस वर्णन में कवि ने अलंकार-कौशल के ताने-बाने से

प्रकृति के दृश्य के अनुरूप ही राजमाता मीनलदे के शिविर का दृश्य उपस्थित कर दिया है।

गुप्तजी की प्रकृति में आकांक्षा भी मिलती है। ऐसे स्थानों पर प्रकृति केवल अपनी ही क्रीड़ा में मग्न बालक की भाँति नही रह जाती—वह किसी उद्देश्य से कुछ करती दिखाई पड़ती है। वह आधार-चित्रपटी का भी काम करती है और अपनी मूर्तिमान गत्यात्मक आकांक्षा (Personified dynamic purpose) से घटना की नीति और नयशीलता पर भी एक रंग बिखेर देती है।

'पंचवटी' में इस प्रकार की साकांक्ष प्रकृति हमे अधिक नही मिलती है, पर कवि का स्वभाव बीज रूप में इस प्रकृति को बिना अभिव्यक्त किए नही रह सका:—

हँसने लगे कुसुम कानन के, देख चित्र-सा एक महान।
विकस उठीं कलियाँ डालों में, निरख मैथिली की मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं, उन्हें गिनाने लगा समीर।
एक एक कर गुन गुन करके जुड़ आई भौंरों की भीर॥

'साकेत' में प्रकृति का यह रूप खूब निखरा हुआ है—

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल।
सजे विधु की बेंदी से भाल, यामिनी आ पहुँची तत्काल॥

तब सब ने जय जय कार किया मनमाना,
वञ्चित होना भी श्लाघ्य भरत का जाना।
पाया अपूर्व विश्राम साँस सी लेकर,
गिरि ने सेवा की शुद्ध अनिल-जल देकर।
मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि विकस गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।
द्विज चहक उठे, होगया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पडी गिरिमाला।

सिन्दूर चढ़ा आदर्श दिनेश उदित था,
जन मन अपने को आप निहार मुदित था।

सिद्धराज का भी एक दृश्य देखिये—

रात हो चुकी थी, दीप दीपित था पौर में,
काँपती शिखा-सी, लिये आँगन में रूप-सी,
रानकदे संकुचित और नत थी खड़ी,
था खङ्गार सम्मुख सजीव एक चित्र-सा।
देखती थी ऊपर अनन्त-तारा-मण्डली,
द्वन्द्व जगता का यह नीरव निस्पन्दिता।

गुप्तजी अँगरेजी कवि वर्ड्सवर्थ की तरह प्रकृति के कवि नहीं। प्रकृति ने उनकी कलम पकड़ कर नहीं लिखा, पर वे प्रकृति और मनुष्य दोनों के प्रतिनिधि बने हैं, और एक सहृदय कवि की तरह उन्होंने मनुष्य और प्रकृति में सामञ्जस्य स्थापित किया है। सामञ्जस्य उनका लक्ष्य है। प्रकृति की अवहेलना नहीं की, उसे बिल्कुल नगण्य भी नहीं समझा। उसको न बिल्कुल जड़ समझा है और न पूर्ण चेतना से युक्त—मनुष्यों से भी बढ़ कर। उनकी कला की यह विशेषता है कि प्रकृति में कोमल व्यापारों का ही सङ्कलन उन्होंने किया है। उनकी प्रकृति कोमल हृदयवाली धाय की भाँति है, जो मनुष्य को जीवन की ओर प्रेरणा, स्फूर्ति और एक नवीन उमङ्ग देती है—फिर भी उसे आदेश देने अथवा उस पर शासन करने में असमर्थ है। प्रधानता कोमलता और उदारता की है। यही कारण है कि उसमें भोलापन और आश्चर्य भी है, भयङ्कर चित्रणों से भी भय एक भोले आश्चर्य की भाँति आया है। कम से कम कर्कश तो कहीं नहीं हुआ—

सबने मृदु मारुत का दारुण झंझा नर्तन देखा था।
सन्ध्या के उपरान्त तमी का विकृतावर्तन देखा था॥

काल कीटकृत वयस-कुसुम का क्रम से वर्तन देखा था।
किन्तु किसी ने अकस्मात् कब यह परिवर्तन देखा था॥

आश्चर्य की झलक है।

गोल कपोल पलट कर सहसा,
बने भिड़ों के छत्तों से।

इस छन्द से भयङ्कर रूप तो उपस्थित होता है पर कर्कशता नहीं। कोमलता गुप्तजी की भारतीय प्रवृत्ति है। इसी कारण प्रकृति में उसी का विशेष प्रवाह है।

उर्मिला के वियोग-वर्णन में प्राचीन परिपाटी के अनुसार षठ्ऋतु वर्णन किया है, पर उसमें प्रकृति का रूप और व्यापार, सहानुभूति और संवेदना सब उर्मिला की अपनी व्याख्या के रूप में आए हैं। उर्मिला ने देखा—

जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।
हरी भूमि के पात-पात में मैंने हृद्‌गति हेरी।

विरह में विरहिणी का दृष्टिकोण निरपेक्ष नहीं रहता। विरह की अग्निमय लालिमा उसके प्रत्येक व्यापार और विचारधारा को अपने रंग में रँग देती है। प्रत्येक निरीक्षण आत्मकेन्द्र से प्रसरित होता है। अपने आपे में ही वह मग्न रहती है और अपने आपे में ही सारी सृष्टि को रँगा देखती है। उर्मिला का विरह उसी का आत्म वर्णन है। उसके अपने अनुभव में निश्चय ही प्रकृति का आत्म-विसर्जन हो गया है। प्रकृति का कुछ अलग रूप नहीं दिखाई पड़ता। आत्म-विसर्जित प्रकृति ने उर्मिला के लिए उद्दीपन का कार्य किया है, किन्तु वह उद्दीप्त विरह प्रकृति के दृश्यों और स्मरणों में रम गया है जिससे परिपाटी-युक्त विरह की प्रिय की हाय और विरह की हूक प्रकृति के उपादानों में इतनी रम गई है कि वह मनुष्य में ईश्वर की भाँति ध्वनित होती है। जो प्रकट है वह प्रकृति की भव्य व्याख्या

है—जो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के समकक्ष हो गई है।

निरख खञ्जन आए सखी, ये,
फेरे उन मेरे रञ्जन ने नयन इधर मन भाए।
फैला उनके तन का आतप मन-से सर सरसाए,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ आए।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाए।
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाए,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाए।

भक्त को जिस प्रकार भगवान के व्याप्त रूप के साकार दर्शन होते हैं प्रकृति के रूप में उसकी प्रतिच्छाया का कैसा आभास है:—

फूल उठे हैं कमल अधर-से ये बन्धूक सुहाए।

क्या उर्मिला के विरह मे आत्म-विसर्जित प्रकृति, लक्ष्मण के नेत्र और अधर का अस्फुट आभास देने वाली होकर विराट के लिए आध्यात्मिक अनुवाद नहीं हो गई? और ठीक यही दशा यशोधरा के विरह मे हमें मिलती है—उसका यह गीत ही—

मैंने ही क्या सहा, सभी ने।
मेरी बाधा व्यथा सही।

प्रकृति की विविध ऋतुओं में विरहिणी की व्यथा की प्रतिध्वनि के ताने-बाने से गुँथ गया है:—

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर, त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सब के आगे।

× × ×

पानी जमे, परन्तु न मेरे, खट्टे दिन का दूध-दही।

कथावस्तु में उद्देश्य

गुप्तजी किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही चलते हैं। दूसरा मत, जो कहता है 'कला कला के लिए है' उसे सोच कर नहीं।" उपयोगितावाद गुप्तजी को गुरु-प्रसाद के ही रूप मे प्राप्त हुआ है। उनके ग्रन्थों का क्रम देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार उनमें उपयोगिता और कवित्व शक्ति का सामंजस्य होता गया है। प्रारम्भिक काव्यों मे तो उपयोगिता की ओर स्पष्ट ही पलडा झुका हुआ है, परन्तु उत्तरोत्तर उनका उपदेशक का रूप छिपता एवं कलाकार का रूप स्पष्ट होता जाता है। क्रमशः कमी होते हुए भी यह प्रवृत्ति इतनी बद्धमूल है कि पूर्ण रूप से कभी भी कवि का साथ नही छोड़ती। 'हिन्दू' में गुप्तजी ने ४२ पृष्ठ की भूमिका में यही प्रतिपादन करने का यत्न किया है कि संसार जब तक संसार है, कविता मे उपयोगिता का स्थान रहेगा।

"क्रम विकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आजकल स्वर्गीय हो उठा है।...उसका लक्ष्य क्या है ? परन्तु... सुनते है वह लक्ष्य है 'सुन्दरम्' और केवल 'सुन्दरम्'। 'सत्यम्' और 'शिवम्' उसके पहले की बातें हैं! कवित्व के लिए अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, ...फूल मे ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।"

× × ×

"कवित्व फिर भी निष्काम है। सम्भवतः वह स्वयं एक सुफल है। इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। निःसन्देह बडी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि हम लोगों को भी इतना ऊँचा करदे कि हम भी उसका अनुभव कर सके।.. परमार्थ के पीछे स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसलिए वह न तो देश से आबद्ध है और न काल से। सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आपको निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश मे है और यह पृथ्वी पर।. जो हो, और तो सब ठीक है, परन्तु एक कठिनाई है, वह यह कि सार्वदेशिक होने पर भी वह एकदेशीय रसिकों के ही उपभोग के योग्य रह जाता है।

एक और बात है। सोने का पानी चढ़ा देने से ही सब पदार्थ सोने के नहीं हो जाते।.. लेखक के (गुप्तजी अपने लिए कहते हैं) लिए तो वह अवश्य ही कोई बडी बात होगी जो उसकी समझ मे नहीं आती। × ×"

"सब की भावना के अनुसार स्वर्ग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के सुने जाते हैं। सौन्दर्य के आदर्श अलग-अलग हैं।..... यदि सौन्दर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है तो गुण भी स्वयं एक बड़ा भारी सौन्दर्य है। हमारे लिए ये दोनों ही वदान्य एव मान्य हैं। एक महाकवि है और दूसरा महात्मा।.......सो पाठक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौन्दर्य का आनन्द लूटे, परन्तु जब तक यह ससार स्वर्ग नहीं हो जाता तब तक हम सांसारिक ही रहेंगे। हमारी गोरक्षा की अति ने विपक्षियों के सामने गायों को खडा देखकर शस्त्र-सन्धान करना स्वीकार न किया, परन्तु इससे न गायों की रक्षा हुई और न हमारी जो रक्षक थे।...

ऐसी अवस्था में कवित्व हमें क्या उपदेश देगा? उपदेश देना उसका काम नहीं। न सही, परन्तु आपत्तिकाल में मर्यादा

का विचार नहीं रहता। और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नहीं देता?...... क्योंकि पथ्य प्रायः रुचिकर नहीं होता।...... "लाख उपदेश दीजिए, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नहीं होता तब तक मन महाराज उसे छूने के नहीं। कवित्व ही उनके (मन महाराज के) पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है। परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान...इस संसार को छोड़कर... स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहा है।...... परन्तु हम पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा।...

कवित्व स्वच्छन्दतापूर्वक स्वर्ग के छाया-पथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्गङ्गा के निर्मल प्रवाह मे निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे, लेखक उसे आपन्न करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गङ्गा में ही एक डुबकी लगाकर 'हरगङ्गा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाए तो फिर कहना ही क्या है?......

कवित्व के उपासकों से उसकी यही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न करदें कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबन्दियों के सिवा और कुछ न रह जाएँ।"

× × × ×

कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गङ्गा और स्वर्ग ही नहीं, वैतरणी और नरक भी है। स्वर्ग और नरक उलटे होकर भी ३६ के अङ्क के समान पास ही पास रहते हैं, अतएव सावधान अपने रूप को न भूलना। तुम स्वयं असाधारण हो—

केवल भावमयी कला—ध्वनिमय है सङ्गीत।
भाव और ध्वनिमय उभय, जय कवित्व नयनीत॥

कला उपयोगी है, गुप्तजी इसके पूरे पोषक हैं। यह बात उनके हृदय में बहुत गहरी बैठी हुई है, तभी तो 'साकेत' जैसे महाकाव्य में भी उन्होंने रख दिया है—

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिये कब, क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता हो......। (सा० पृ०२२१)

कला के सम्बन्ध में फिर 'साकेत' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है:—

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला

इन अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी कला की उपयोगिता कला के लिये मानने वालों के तथा यथार्थवादियो के विरुद्ध मत रखने वाले हैं। यही उपयोगितावाद इस प्रकार प्रकट किया गया है:—

जल निष्फल या यदि तृषा न हम में होती,
है वही उगाता अन्न चुगाता मोती।
निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी।

किसी कवि ने—छायावादी कवि ने, लिखा था—

'फूल क्यों फूलते हैं, फूलने के लिए। उसमें उपयोगिता की चाह नहीं।'

किन्तु यहाँ गुप्तजी ने अपना मत इसके विपरीत प्रकट किया है। वे जो लिखते हैं, उपयोगिता की दृष्टि से लिखते हैं, किसी

अपूर्ण को पूर्ण करने के लिए लिखते हैं:—

'जो अपूर्ण कला उसीकी पूर्ति है'

यही नहीं—कला मे एक और गुण है। वह सुन्दर को सजीव और भीषण को निर्जीव करती है.—

कहा माण्डवी ने 'उलूक भी लगता है चित्रस्थ भला;
सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला।'

रामचरित्र में—उस रामचरित्र में जो कि अब तक महा कवियों ने व्यक्त किया है, गुप्तजी को कई अपूर्णताएँ दीख पड़ी हैं और इसी कारण 'पंचवटी' और 'साकेत' का जन्म हुआ है। इसीलिए 'साकेत' बहुत स्थलों पर रामचरितमानस की व्याख्या सा दीख पड़ता है:—

रखकर उनके वचन लौटते लोग थे
पाते तत्क्षण किन्तु विशेष वियोग थे।
जाते थे फिर वहीं टोल के टोल यों—
आते जाते हुए जलधि कल्लोल ज्यों।

तुलसी ने इसी को यों लिखा है :—

चलत राम लखि अवध अनाथा।
विकल लोग सब लागे साथा॥
कृपासिन्धु बहुविधि समुझावहि।
फिरहिं प्रेमवश पुनि फिरि आवहिं॥

इस प्रकार अपूर्णता की पूर्णता की ओर चेष्टा दीख पड़ती है। कविता के सम्बन्ध में ऐसी धारणाएँ रखने के कारण ही कवि को अपनी वस्तु मे कोई न कोई उद्देश्य रखना अवश्य पड़ा है।

'भारत-भारती' मे राष्ट्रीय भावनाओ का प्रचार और अपने जीवन के सिंहावलोकन के साथ-साथ भारत के अतीत की भव्यता को हृदय मे जमा देना जहाँ अभीष्ट था, वही 'जयद्रथ

वध में अपने अधिकारों के लिए लड़ मरने का उद्बोधन था—

'निश्चेष्ट होकर बैठ रहना कायरों का कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।'

'अनघ' में कोमलता का प्रवेश है। केवल हिंसा ही सब कुछ नहीं, स्वार्थ ही सब का अन्त नहीं, अहिंसा और परमार्थ भी दिव्य गुण हैं; विश्व के प्रति उदार भावों से बढ़ना ही मनुष्य-जीवन की सफलता है। 'बक-संहार' में कौटुम्बिक सम्बन्धों की आलोचना और अतिथियों के व्यवहार पर प्रकाश डाला गया है। उनमें स्त्री-पति, पिता-माता, पुत्र-पुत्री, अतिथि-आतिथेय आदि के पारस्परिक सम्बन्ध तथा राजा-प्रजा के कर्तव्याकर्तव्य का प्रदर्शन है। 'वन-वैभव' में न केवल उदारता और दम्भ के पारस्परिक सम्बन्ध से दम्भ को नीचा दिखला कर उदार वृत्ति नैतिक आदर्श की विजय घोषणा की गई है, वरन् यथावसर शत्रु-मित्र और भाई के व्यवहारों पर भी विचार है। राजनीति भी अछूती नहीं।

कौरव और पाण्डवों में भारतीय हिन्दू-मुस्लिम कलह के दर्शन में होते हैं—और युधिष्ठिर का यह भाव मानों वर्तमान परिस्थिति को ही लक्ष्य करता है :—

जहाँ तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच, गिने तो हमें एक सौ पाँच।

रण में रण हो पर चित्त में क्षोभ न हो, यह चित्ररथ और अर्जुन के युद्ध में प्रतीत होता है—कर्तव्य के लिए, स्वत्वों के लिए लड़ना पाप नहीं, पर हृदय में मलिनता न आनी चाहिए। चित्ररथ को हरा कर अर्जुन ने यह कहा.—

क्षमा, हरना जुगता है मीत!
हार हो चाहे मेरी जीत
कर्म था किन्तु न विधि-विपरीत।

भाव अब भी हैं मेरे भव्य
कठिन ही होता है कर्तव्य।

'जयद्रथ-वध' मे भी हमने अर्जुन को देखा है; वहाँ जो खून की नदियाँ बहाई गई है, वहाँ जो कर्कश ताण्डव हुआ है, उसे फिर गुप्तजी कभी चित्रित नहीं कर सके। फिर उनकी वीरता दार्शनिक होती चली गई है। अर्जुन का युद्ध यहाँ खेल-सा दिखाई पड़ता है। 'वकसंहार' में तो कवि ने उस दृश्य को छुआ तक नहीं, जिसमें भीम ने वक का संहार किया है। यह शब्द कह कर उन्होंने क्षमा माँग ली है :—

इसके अनन्तर किस तरह
हरि मत्त करि को जिस तरह
वक-वध वृकोदर ने किया पर दिन वहाँ—
लिखते नहीं अब हम उसे
पढना यही प्रिय हो जिसे,
कृपया क्षमा करदे हमे वह जन यहाँ।

यह स्वभाव परिवर्तन स्पष्ट ही दीखता है। 'साकेत' मे हम युद्ध के दर्शन करते तो है, पर उसमें वह रण-लिप्सा, वह क्रूर-नाट्य तथा वह चटाख-पटाख नहीं। उसमे हर स्थान पर उदार एवं कोमल भावनाओं का प्रसार है। भाषा भी उतनी भीषण नहीं। 'जयद्रथ-वध' मे एक गरमी है, उष्णता है—रक्त का उबाल है, वह 'साकेत' मे कहीं नहीं। वह मधुर दार्शनिक भावों के रँग मे डूबा हुआ है, रण की भयङ्करता कौतूहल हो गई है। सिद्धराज मे जो वस्तु-दृष्टि से 'जयद्रथ-वध' के समकक्ष माना जाना चाहिए, हमे युद्धों का उल्लेख मिलता है, पर सक्षिप्त संकेत की भाति ही वह रह गया है। उसमे उतनी भी विशदता नहीं जितनी 'साकेत' के युद्ध वर्णन में है।

मेघनाद और लक्ष्मण के युद्ध का यह दृश्य 'जयद्रथ-वध'

के किसी भी युद्ध-वर्णन से मिलाइए :—

हुआ वहाँ सम समर अनोखा साज सजा कर
देते थे पटताल उभय कर लोह बजा कर।
शब्द शब्द से, शस्त्र शस्त्र से, घाव घाव से,
स्पर्धा करने लगे परस्पर एक भाव से।
× × × ×
कौतुक-सा था मचा एक मरने जीने का,
संगर मानो रंग हुआ था रस पीने का।
× × × ×
क्रम से बढ़ने लगी युगल वीरों की लाली,
ताली देकर नाच रहे थे रुद्र कपाली।
अक्षमाला थी बनी जपा फूलों की डाली,
रण-चण्डी पर चढ़ी, बड़ी काली मतवाली।

'जयद्रथ-वध' में है—

'सर-रूप खर रसना पसारे रिपु रुधिर पीती हुई'...आदि

और 'सिद्धराज' के वर्णन को देखिये:—

स्वर्ग-च्युत जीव-सम सैन्य-जन अपने,
विचलित देख बढ़ सिद्धराज गरजा।
और आशाराज-नामी सैन्याध्यक्ष उसका
टूट पड़ा वज्र-सम गर्जना के साथ ही,
वर्जना थी अपनों की शत्रुओं की तर्जना।
खड्ग ने प्रहार किया क्रुद्ध जगद्देव ने,
और आशाराज ने भी, युग संग दोनों के
भंग हुए खड्ग द्वय खन-खन करके।
फेंक मूठ मार एक दूसरे को मूठ भी,
गिर पड़े दोनों भट माथा फट जाने से।

युद्ध का ऐसा वर्णन 'सिद्धराज' में भी यहाँ मिलता है,

अन्य स्थानों पर तो कुछ इस प्रकार लिखकर ही काम चलाया है कि :—

गाने लगे बन्दि जन, लोहा बजने लगा,
और रण-चण्डी निज नृत्य करने लगी।

इस प्रकार उनके स्वभाव का परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

'वक संहार' और 'वन वैभव' की व्यवहार-नीति 'पंचवटी' में काव्य-रूप धारण कर लेती है। वहाँ राम, सीता, लक्ष्मण, पशु-पक्षियों आदि का वर्णन कौटुम्बिक सम्बन्ध की काव्यमय हिलोर लेता दीख पड़ता है। पर, 'पञ्चवटी' का उद्देश्य केवल यह आनन्द नहीं—वह एक चरित्र का आदर्श—चरित्र-नीति का रूप हमारे समक्ष रखता है।

पाप-प्रवृत्ति और पुण्य-प्रवृत्ति के संघर्ष के रूपक की तरह 'पञ्चवटी' हमारे सामने खड़ी होती है।

लक्ष्मण पुण्य-प्रवृत्ति के आदर्श और शूर्पणखा पाप-प्रवृत्ति का प्रतिरूप है। पाप-प्रवृत्ति कितनी कोमल, कितनी मधुर होकर हमारे सामने उपस्थित होती है—कब ? रात्रि की कालिमा-रञ्जित घड़ी में—वह छद्मवेषिणी पाप-प्रवृत्ति अटल पुण्य-वृत्ति को छलने के लिए कैसे-कैसे सुन्दर तर्क उपस्थित करती है, कैसी अनुराग-मयी समवेदना के साथ वार्तालाप करती है—

उस रात्रि में जिसके सम्बन्ध में मिल्टन ने कोमस (Comus) में कहलाया है—

O Night and Shades!
How are ye joined with hell in triple knot.

ऐसे ही किसी अन्धकार अज्ञान के क्षण में किसी अटल योगी के सामने—किसी आदर्श पुण्य-प्रवृत्ति के सामने पाप-प्रवृत्ति अपनी अतृप्त लालसा के साथ जाती है। वह अतृप्त लालसा पाप

की बड़ी बड़ी आँखों से स्पष्ट झलकती है—

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा
मानों छवि से छलक रही।

पर जिस चेतनाशील व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रश्नरूप में गुप्तजी यह पूछते हैं कि—

जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है।

उससे पार नहीं पड़ती। विजय अटल पुण्य-प्रवृत्ति की होती है। खीज कर पाप-प्रवृत्ति भीषण रूप धारण कर लेती है—प्रलोभन के बाद भय से काम लेती है—पर पुण्य-प्रवृत्ति उसे क्षत-विक्षत कर देती है। अटल निष्ठा की जय होती है। इस चरित्र के आदर्श को—इन्हीं पूत-भावों के उत्कर्ष को 'पंचवटी' रूपक (Allegory) की तरह रखती है। ऐसे रूपक का एक तुल्याभास मिल्टन के कोमस (Comus) में दीखता है।

ऐसी रूपकता 'साकेत' में भी है, पर वह उतनी अधिक चरित्र-सम्बन्धिनी नहीं जितनी अधिक मूर्त है। वह राष्ट्रीयता की पोषक है—सीता भारत-लक्ष्मी है। उर्मिला कह रही है :—

देव-दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
इसी भूमि की सुता पुण्य की प्रतिमा सीता।
मातृभूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे,
लक्ष-लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे।

× × × ×

अयोध्या की सेना उर्मिला को उत्तर देती हुई कहती है :—

"मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जावेंगे,
अपनी लक्ष्मी लिए बिना क्या घर आवेंगे।

होगा, होगा वही, उचित है जो कुछ होना,
इस मिट्टी पर सदा निछावर है वह सोना।"

ऐसी ही बात भरतजी कहते हैं :—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।

इन वाक्यो में सीता-भारत-लक्ष्मी—के लिए वही उत्सुकता है जो एक राष्ट्र-प्रेमी के हृदय में होती है।

और यशोधरा में क्या है ? कवि ने तो 'शुल्क' में इतना ही कहा है—

"हाय यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तो की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देख कर भी नहीं देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदो ने गाया है। परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देख कर मुझे शुद्धोदन के शब्दो में यही कहना पड़ा है कि—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

अथवा तुम्हारे शब्दों में मेरी वैष्णव-भावना ने तुलसीदल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रक्खा है।"

इन शब्दों में से दो पर हमारी दृष्टि अड जाती है—

'गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता' तथा 'वैष्णव-भावना'। उपेक्षिता थी गोपा या यशोधरा आज तक, उर्मिला की तरह; यह कि ये देवियाँ भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती थीं, भूल जाया गया है। उर्मिला भी सीता के समान हठ कर सकती थी बन जाने को········।

गुप्तजी ने उसे उपस्थित किया ही है—

किन्तु कल्पना घटी नहीं, उदित उर्मिला हटी नहीं।
खड़ी हुई हृदयस्थल में, पूछ रही थी पल पल में।

मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ, हाय ! और क्या आज कहूँ ?

पर नहीं—

कहा उर्मिला ने—'हे मन !, तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा, हो अनुराग विराग भरा।'

और वह घर में ही तपस्विनी बन कर रहने लगी। और 'यशोधरा' भी जैसा वह स्वयं कहती है—

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ,
बैठं रहती मैं ! छान डालती धरती को।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं।

पर नहीं उसका दुःख क्या है :—

मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ; हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ?

पर गोपा नहीं गयी—क्यों नहीं गयी :—

मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ?
अयि मेरे अर्द्धाङ्गि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे ?
हा ! अपने अञ्चल में कितने ये अङ्गार बिखेरे ?
हे नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी !
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

सिद्धिमार्ग की बाधा नारी, फिर उसकी क्या गति है ?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है !
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है !

तो कहने को कहा जा सकता है कि कवि ने उपेक्षिताओं पर दया की है, पर यह नहीं है ! कवि ने उर्मिला और यशोधरा के अन्तर-सौन्दर्य को देखा है, हाँ, इसमे सन्देह नही, पर कवि केवल सौन्दर्य वादी नही। कवि मे वैष्णवीय करुणा है जैसा उसने लिखा है :—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने।

गुप्तजी ने यशोधरा की पीर जानी उसके द्वारा ऐसी सभी परित्यक्ताओं की पीर जानी :—

अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !

और इसीलिए ये काव्य लिखा—यह भी किसी सीमा तक ही ठीक है—पर इस स्त्री-स्वातन्त्र्य-युग मे 'स्त्री' को समझना आवश्यक है उसके त्याग और करुणा से ही पुरुष का तप सफल होता है, घर में रहकर वियोग सहने वाली स्त्रियाँ भी महान हैं—अत्यन्त महान् हैं और उनकी महानता के समक्ष भगवदीय महानता को भी झुकना पड़ेगा और कहना पड़ेगा—

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से, शरीर से—

तो इसीलिए यशोधरा लिखी गयी है।

सिद्धराज में कवि ने अपने मध्यकालीन वीरों की एक झलक उपस्थित की है, पाप-पुण्य, प्रेम-मोह, हिंसा-अहिंसा की व्यंजना-युक्त विचारणा के साथ कवि ने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि यहाँ 'एकच्छत्र' क्यों नहीं हो सकता:—

स्वप्न देखते हैं आप एक नर-राज्य का,
एक देव के भी यहां सौ-सौ भाग हो चुके!
हर-हर महादेव एक मन्त्र रहते,
कोई जय बोलता है मात्र सोमनाथ की।
कोई महाकाल की तो कोई एकलिंग की,
रह गये आप विश्वनाथ काशीनाथ ही?

फिर भी यह आशा है कि:—

होंगे युग-पुरुष स्वय ही युगयुग में।
देना पड़े मूल्य हमें चाहे जितना बड़ा,
हम यवनों से भी ठगाये नहीं जायंगे।
आर्य-भूमि अन्त में रहेगी आर्य-भूमि ही;
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतिया सब की,
होगा एक विश्व-तीर्थ भारत ही भूमि का।

तो यह स्पष्ट उद्देश्य सिद्धराज में है। इसी प्रकार नहुष का उद्देश्य भी अत्यन्त स्पष्ट है।

इन सभी रचनाओं में मिलने वाले उद्देश्यों को हम कई प्रकारों में बांट सकते हैं—कुछ ऐसी रचनाएं हैं कवि की जिनमें राष्ट्रता और राष्ट्रीयता उद्देश्य है—जिनमें आर्यों का शौर्य उसने प्रदर्शित किया है। कुछ ऐसी रचनाएं हैं जिनमे उसने मानवीयता—विश्व-मानवता का रूप खड़ा किया है। इन सब में कवि का आर्य-संस्कृति का मोह स्पष्ट है। वह विश्व-मानवमें भी आर्य संस्कृति से लिए हुए गुण देखता है। आर्य संस्कृति के चार रूपों का उसने स्पष्टी करण किया है—राम-संस्कृति, कृष्ण संस्कृति, बुद्ध-संस्कृति और राजपूत-संस्कृति—और इन सस्कृतियों का उसने, जैसे तुलसी ने राम और कृष्ण का समन्वय किया, समन्वय नहीं किया, उसने अपनी बौद्ध-विदग्धता से कृष्ण, बुद्ध, और राजपूत संस्कृतियो का समाधान राम-संस्कृति में कर दिया।

मानव राम ईश्वर राम है, यह उद्देश्य उसका इन सब रचनाओं की नाडी में स्पन्दन कर रहा है।

राष्ट्रीयता—यह राष्ट्रीयता कवि का विशेप उद्देश्य रहा है, परन्तु, कवि संस्कृतिशून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं। वह राष्ट्रीयता जो अपने अपूर्व गौरव से युक्त हो, उसी राष्ट्रीयता को कवि ने अपना ध्येय रखा है। उसके हृदय में उसी राष्ट्रीय भावना के साथ भारत को मुक्त देखने की एक तीव्र अभिलाषा जाग्रत है—उसे विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब भारत फिर पूर्ववत सुसम्पन्न हो जायगा—भारत की स्वतन्त्रता फिर लौट आएगी। उसके इस मनोहर आशा स्वप्न की झलक इन शब्दों में देखी जा सकती है—

आया, आया, किसी भाँति वह दिन भी आया,
जिसमें भव ने विभव, गेह ने गौरव पाया।
आए पूर्व-प्रसाद रूप से मारुति पुर में,
प्रकटे फिर, जो छिपे हुए थे सबके उर में।
अपनों ही के नहीं परों के प्रति भी धार्मिक,
कृती प्रवृत्ति–निवृत्ति–मार्ग–मर्यादा–मार्मिक।
राजा होकर गृही, गृही होकर सन्यासी,
प्रकट हुए आदर्श रूप घट घट के वासी।...(सा०)

राष्ट्रीयता के लिए मैथिलीशरणजी इन बातों की आवश्यकता समझते हैं—

१—अपने पूर्व गौरव पर विश्वास और अभिमान।
२—जन्म-भूमि से प्रेम।
३—कर्तव्य-बुद्धि।
४—क्रियाशील जीवन।
५—संस्कृति का सुधार।

६—स्वतन्त्रता।

१—पूर्व गौरव—अपने पूर्व गौरव को ही स्मरण कराने और उस संस्कृति का भव्य रूप दिखाने के लिए ही तो गुप्तजी की प्राय. सारी रचनाएँ हुई है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं मे ऐतिहासिक और पौराणिक स्थल विशेष स्थान रखते है। उन्हे विश्वास है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता ही संसार को और हमें वह सन्देश और प्रेरणा दे सकती है जिससे कल्याण हो सके। उनकी लेखनी पूर्वभारत के मनोरम चित्रों को खींचने में कभी थकती ही नहीं। 'भारत भारती' और 'हिन्दू' तो विना कथानक के ही पूर्व गौरव का प्रचार करने के लिए लिखे गए हैं। पूर्व गौरव मे विश्वास होने के कारण ही उनमे आर्यत्व के प्रति विशेष ममत्व है। वे हिन्दू-मुसलमान-ईसाई में राष्ट्रीय दृष्टि मे कोई भेद नहीं करना चाहते, फिर भी वे सबको आर्यत्व के पवित्र सिद्धान्त से प्रोत देखना चाहते हैं।

२—जन्मभूमि से प्रेम—मातृभूमि के प्रति स्नेह का भाव भी उनमें अटल है। इस हेतु वे इन शब्दों में भारत की स्तुति ही नहीं करते कि—

'जय भारत भूमि भवानी
अमरों तक ने तेरी महिमा बारम्बार बखानी।'

प्रत्युत वे मातृभूमि के प्रेम को सजीव खड़ा कर देते हैं। राम अयोध्या से विदा हो रहे हैं—जन्मभूमि का स्मरण हृदय को दुःख कर रहा है—

उतर पुरी की ओर फिरे प्रभु घूम कर।
जन्मभूमि का भाव न अब भीतर रुका,
आर्द्र भाव से कहा उन्होंने, सिर झुका—
जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे

हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।

× × × ×

हम में तेरे व्याप्त विमल जो तत्व हैं—
दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ सत्व हैं,
उन सबका उपयोग हमारे हाथ है—
सूक्ष्म रूप में सभी कहीं तू साथ है।" आदि

× × × ×

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ, सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ, बरसूँ कहीं।

× × × ×

राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कहीं,
आऊँ अथवा लौट यहाँ आऊँ नहीं।
रामचन्द्र भवभूमि अयोध्या का सदा,
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा।
आया झोंका एक वायु का सामने,
पाया सिर पर सुमन समर्पित राम ने।

३—कर्तव्य-बुद्धि—कर्तव्य-बुद्धि बिना गौरव तथा प्रेम का उचित अनुचित विवेक न होगा। अपने स्वत्वों के प्रति उपेक्षा हो जाएगी। 'जयद्रथ-वध' के आरम्भ मे इसी कर्तव्य-बुद्धि की कठोरता बतलाते हुए कवि ने कहा है :—

'न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।'

इसी कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर अर्जुन को अपने मित्र चित्ररथ के विरुद्ध शस्त्र उठाने पड़े। सुकर्तव्यता का परिणाम भला ही होता है, अतः कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। उसकी बुद्धि ही हमें उसे करने में प्रेरित कर सकती है। कर्तव्य-बुद्धि के लिए अवस्था का भी कोई प्रश्न नहीं। सोलह वर्ष के बालक मे भी कर्तव्य-बुद्धि रह सकती है। यही कर्तव्य बुद्धि हमें घरेलू वैम-

न्याय से बचा सकती है। आपस के झगड़े में तीसरे को दखल देने के लिए क्यों बुलाया जाए। तीसरे के हस्तक्षेप का अर्थ ही यह है कि हमें एक दूसरे पर विश्वास नहीं, हम मनुजत्व से पतित हो गए हैं। झगड़ा कोई बेईमानी से क्यों खड़ा हो? जहाँ बेईमानी मूल में होती है वहाँ परस्पर अविश्वास बढ़ता है। यों तो अधिकारों के लिए झगड़े होते हैं, पर ईमानदारी होने के कारण आपस में ही सुलझ जाते हैं। फिर तीसरे व्यक्ति को बुलाना क्या अपना ही अपमान करना नहीं। तभी तो 'वन-वैभव' में युधिष्ठिर ने कहा है—आपस में हम पाँच और सौ हैं पर तीसरे के लिए हम एकसौ पाँच हैं।

४—क्रियाशीलता—परन्तु कर्तव्य बुद्धि को कार्य रूप में परिणत करने के लिए बहुत ही अधिक क्रियाशीलता चाहिए, वीरता और उत्साह चाहिए। यही कारण है कि गुप्तजी के काव्यों में हमें ओज मिलता है। उनकी रचना में वीरता के भाव दीख पड़ते हैं। यह अवश्य है कि पहले उनकी वीरता अधिक हिंस्र थी, पर आगे उसमें क्षमा और उदारता का भाव आ गया, पर इससे उसमें शिथिलता नहीं आई।

५—संस्कृति का सुधार—इन सब बातों के साथ यदि हमारे जीवन का अन्तःसंस्कार नहीं, यदि हमारी राष्ट्रीयता केवल बाहरी आन्दोलनों की है तो भी कल्याण नहीं। जहाँ हमारा जीवन बनता है वह पालना भी ठीक होना चाहिए। हमारे घरों के पारस्परिक सम्बन्ध में स्वार्थ की मात्रा कम होकर एक दूसरे के प्रति त्याग का पवित्र भाव होना चाहिए। इसी संस्कृति को संस्कृत करने के लिए 'बक-संहार' काव्य में संकेत है। 'अनघ' तो पर-संस्कार का आदेश देता है, पर 'बक-संहार' स्व-संस्कार का चित्र रखता है। 'बक-संहार' का ब्राह्मण कुटुम्ब

कितना शान्त और पवित्र है। प्रत्येक के हृदय में—माता, पिता, कन्या और पुत्र मे—कैसा अटूट प्रेम एक दूसरे के प्रति प्रवाहित है, उनमे कैसा मनोहर त्याग एक दूसरे के प्रति है। वहाँ गुप्तजी ने स्त्री-पति, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, पुत्री आदि के कर्तव्यों की एक प्रकार से मीमांसा की है।

६—स्वतन्त्रता—संस्कृति मे सुधार हो जाय तो गृहस्थ-आदर्श हो जाएँ, पर राष्ट्रीयता में स्वतन्त्रता की नितान्त आवश्यकता है। गुप्तजी की स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र मे प्रतिफलित नहीं होती। प्रजातंत्र केवल एक पक्ष की तरह उनके सामने उपस्थित होता है:—

पर अपना हित आप क्या नहीं
कर सकता है यह नरलोक ?

यह विश्वास धारणा के रूप में कहीं प्रकट नही हुआ।

राजा होना चाहिए पर वही राजा जो प्रजा के हित को ध्यान मे रक्खे। राजा-प्रजा के सम्बन्ध मे गुप्तजी ने बाद के प्रायः सभी काव्यों में कुछ न कुछ उल्लेख कर ही दिया है। 'पंचवटी' तक में इस सम्बन्ध में संकेत है। 'वक-संहार' में तो स्पष्ट राजा की आलोचना इस प्रकार है:—

यदि भीरु वह दुर्बलमना,
तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?
राजा प्रजा के अर्थ है,
यदि वह अपद असमर्थ है,
कारण वही है तो स्वयं उत्पात का।
जूझे कि निज पद त्याग दे,
सबके सदृश बलि-भाग दे।
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं !

× × ×

राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें,
जो सब तरह सबकी सुनें।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

राजा प्रजा के लिए है। प्रजा का पात्र है। यदि उस भाव में किसी प्रकार का प्रलोभन आ जावे तो उसके प्रति विद्रोह करना भी धर्म हो जाता है। वही अराजकता जो पाप है, पुण्य बन जाती है। 'साकेत' में शत्रुघ्न कहते हैं :—

राज्य को यदि हम बनालें भोग, तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठ कर ओह! आज मेरा धर्म राजद्रोह।
विजय में बल और गौरव-सिद्धि, क्षत्रियों के धर्म-धन की वृद्धि।
राज्य में दायित्व का ही भार, सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु, तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।
× × × ×
हा अराजकभाव, जो था पाप, कर दिया है पुण्य तुमने आप।
(कैकेयी ने)

उसी प्रजातन्त्र की स्थापना और एकतन्त्र के उन्मूलन पर हारे दर्जे की बात की तरह मैथिलीशरण गुप्त शत्रुघ्न के द्वारा कहलाते हैं :—

राज्य-पद ही क्यों न अब हट जाए!
लोभ मद का मूल ही कट जाए।
× × × ×
विगत हों नरपति रहें नर मात्र
और जो जिस योग्यता का पात्र—

वे रहें उस पर समान नियुक्त
सब जिएँ ज्यों एक ही कुल भुक्त।

प्रजातन्त्र-स्वतन्त्रता द्वारे दर्जे की बात है, वह कवि के लिए नियम नहीं। उसकी भव्यता कवि ठीक नहीं दिखा सका। वह प्रजा के हेतु राजा को चाहता है, पर प्रजा की यह स्वतन्त्रता चाहता है, प्रजा में यह भाव चाहता है कि यदि राजा अहितकर सिद्ध हो तो वे उसे पृथक कर दें। राजा कुछ न हो, केवल प्रजा-भाव की मूर्ति हो। यही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता है।

कवि का जीवन-सन्देश

कवि जीवन में सामञ्जस्य चाहता है। वह यह चाहता है कि हम मनुष्य ही देवता बन जाएँ। इसी भाव से वह कहता है—

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।

रामचन्द्रजी कहते हैं—

भव में नव-वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

इस संसार में मिलन ही एक स्वर्ग का मार्ग है। वही तीर्थ है। राम कहते हैं—

सुनो मिलन ही सदा तीर्थ संसार में,
पृथ्वी परिगत यहाँ एक परिवार में।

पर यह तीर्थ—यह मिलन, यों ही नहीं हो सकता। दो बातों की आवश्यकता है—

१—त्याग और २—अनुराग।

त्याग और [illegible] [illegible] बन रही।

त्याग से ही भोग [illegible]—त्याग ही मनुष्य-जीवन को सफल करता है—

बनती जब आप अर्पिता, वह वर्ती वह स्नेह-तर्पिता।
उसको भर अङ्क भेटता, तब पीछे तम दीप मेटता।

ईशोपनिषद् में भी कहा है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'। पर वह त्याग बाध्य हो कर न करना पड़े, उसमें अनुराग हो—वह स्नेह अर्पित हो।

स्नेह-समर्पण में कायरता और भीरुता न हो। स्नेह-समर्पण मोह से अभिभूत न हो। शूर्पणखा जिसे अनुराग समझती थी वह अनुराग न था—

हा नारी! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह।
आत्मा का विश्वास नहीं यह, है तेरे मन का विद्रोह।

प्रेम और मोह में यही अन्तर है। एक आत्मा का विश्वास होता है, दूसरा मन का विद्रोह। आत्मा के विश्वास से प्रेरित आकर्षण प्रेम है, अनुराग है। इस अनुराग में कैसा भी भीषण त्याग हो, कोमल हो जाता है। इस अनुराग में कर्तव्य की परिभाषा ही विभाषा हो जाती है—प्रिय वस्तु अपना ही एक अङ्ग बन जाती है। दोनों की परस्पर व्याप्ति हो जाती है। कर्तव्य या त्याग किसी की भी पृथक सत्ता नहीं रह जाती—

'है प्रेम स्वयं कर्तव्य बड़ा'

सीता बोलीं—...

"पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यों घर से मुंह मोड़ चले?"
—उत्तर मिला कि—"आर्ये बरबस,
बना न दो मुझको त्यागी।"

राम कहते हैं:—

"क्या कर्तव्य यही है भाई?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य आपके प्रति इस जन ने, कब कब क्या कर्तव्य किया?"

"प्यार किया है तुमने केवल!" सीता यह कह मुसकाई।

इसी अनुराग-मय त्याग में प्रकृति मनोहारिणी-वाघाएँ फूल लगने लगती हैं :—

मिली हमें है कितनी कोमल, कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या, विद्वज्जन जीवन-संग्राम।
तो इसमें सुनाम कर लेना, है कितना साधारण काम।

इस अनुराग मय त्याग की कोमल स्फूर्ति सीता में व्याप्त हो कर वह मनोमुग्धकर संगीत बन कर फूट निकलती है—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

इसी त्याग और अनुराग का आदर्श हमें राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, माण्डवी, उर्मिला, कुन्ती, अर्जुन, बुद्ध, यशोधरा-तात्पर्य यह कि गुप्तजी के सभी पात्रों में मिलता है। त्याग और अनुराग की पवित्रता और पावनता के साथ 'भोग' में निर्मद रहना आवश्यक है। जो निर्मद नहीं रहता वह स्वर्ग पाकर भी पतित हो जाता है, पर उस अवस्था में नर को, पुरुष को निश्चेष्ट नहीं होना चाहिए। नहुष की भांति उसे मानव-उद्योग पर भरोसा रखना होगा—

नर हो न निराश करो मन को,

और 'पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो' यही उद्बोधन है इसमें ये मानों कृष्ण की वाणी है "त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"। और यह सब किस लिए—सिद्धि के लिए, बुद्धि के लिए और उसके साथ-साथ आत्म-शुद्धि के लिए भी।

इस उद्योग के साथ शौर्य और शौर्य के साथ शील की आवश्यकता है।

———

धार्मिक अभिव्यक्ति

गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं, पर आर्य संस्कृति और वैष्णव धर्म में उनका पूर्ण विश्वास है। उन्होंने अपने काव्यो के द्वारा आर्य-संस्कृति के इन्ही मनोरम रूपों की एक रेखा प्रकट की है। उनमें धार्मिकता के भाव हिलोरे ले रहे हैं। पर वह धार्मिकता अनुदार और संकुचित नही; वह नव प्रकाश से प्रभावित है। उन्होंने प्राचीन गौरव मे भावी आदर्श का दर्शन कराके इस संसार को ही स्वर्ग बनाने की चेष्टा की है। उनके पात्रों में एक बात यह विशेष है कि वे सभी दुःख झेलते है, पर हँसते-हँसते। गुप्तजी आशा-वादी कवि हैं, निराशावादी नहीं। निराशा आकर झकझोरती है, पर वह शीघ्र ही विलीन हो जाती है, दृढ़ निश्चयशील व्यक्ति के आगे वह ठहर नही सकती। तभी हमें भरत, लक्ष्मण, उर्मिला यशोधरा आदि के दुःख में भी एक उत्साहवर्धक, एक आशा स्फुरित करने वाला भाव मिलता है—इसी कारण एक स्वर्गीय मनोरमता रमती दीख पड़ती है। भरत के ये शब्द ही मैथिली-शरणजी के स्वर मे है:—

रोक सकेगा कौन भरत को, अपने प्रभु को पाने से ?
टोक सकेगा रामचन्द्र को, कौन अयोध्या आने से ?

इसी मनोरमता ने इनकी धार्मिकता को सुगन्धि से पूर्ण कर दिया है। धर्म मे अनुराग है, पर धर्मान्धता नही। राम की उपा-

सना करते हैं, राम को भगवान का अवतार भी मानते हैं; उनमे वे सभी वैष्णवीय कला देखते हैं। पर काव्य में उनको—उन रहस्यमय वैष्णवीय क्रियाओं को उन्होंने प्रधानता नहीं दी है। राम के मुख से यह तो कहलाया है कि मैंने अवतार लिया है, पर अवतार के-से चमत्कार पूर्ण जादू भरे कृत्य नहीं कराये। राम की चमत्कारशीलता मे उन्हें विश्वास है अवश्य, तभी उन्होंने कहीं-कहीं उसकी ओर संकेत किया है, पर गुप्तजी ने उन्हें तुलसी के समान नरत्व से दूर नहीं कर दिया। उन्होने प्रेम और त्याग का आदर्श रक्खा है, अतः उनका विश्वास चरित्र में प्रकट हुआ है। उनका धर्म मानवीय चरित्र में दिव्य गुणों का विकास करना है। उसी से स्वर्ग संसार में आ सकता है। मांडवी कहती है:—

> मेरे नाथ, जहाँ तुम होते, दासी वहीं सुखी होती,
> किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।
> रह जाता नरलोक अबुध ही, ऐसे उन्नत भावों से,
> घर-घर स्वर्ग उतर सकता है प्रिय, जिनके प्रस्तावों से।

उनके धर्म का मूल है चरित्र में उन्नत-भाव-सम्पन्नता और उसी के अनुकूल आचरण। बौद्धों के आचरण—दिव्य धर्म में राम का वैष्णवीय भाव—आस्तिक साकार ईश्वरता—दया और समतापूर्ण मिल जाने से गुप्तजी का संस्कृत आर्य-धर्म मिलता है। इसी का विकास हमें और काव्यों की अपेक्षा साकेत में विशेष मिलता है। इसी कारण उनका साकेत कुछ सन्तों तथा भक्त की वस्तु नहीं, इस संसार में रहने वालों की वस्तु है। यही तुलसी में और इनमें अन्तर है।

यह भी मोक्ष को उतना पसन्द नहीं करते जितनी भगवान के चरण कमलों में भक्ति, बस :

जो जन तुम्हारे पद कमल के असल मधु को जानते,
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते।

राम के प्रति अनन्यता तो उनके इन शब्दों से परिलक्षित होती है:—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।

———

स्त्रियों का स्थान

गुप्तजी ने स्त्रियों में भी भारतीय आदर्श के ढाँचे में दिव्यता भरने की चेष्टा की है। स्त्रियों का जो भारतीय आदर्श दीर्घकालीन परम्परा-भुक्ति के कारण अनुदार और रूखा-सा दीखने लगा था—और क्रान्ति के स्फुलिंगों को विस्फोटन के लिए प्रेरित कर रहा था—उसीको नए भावुक तर्क से सजा कर, नई आत्मा से अभिसिञ्चित कर दिया है। 'साकेत' और 'यशोधरा' तो लिखे ही गए हैं स्त्री-गुणों के प्रति सहानुभूति से प्रेरित होकर। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला व यशोधरा के लिए ही कवि ने 'साकेत' और 'यशोधरा' की सृष्टि की है। 'मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शास्वतीः समाः' कहने वाले दयार्द्र चित्त कवि कुल-गुरु वाल्मीकि भी जिस उर्मिला के लिए मौन रहे, उसी के प्रति श्रद्धापूर्ण अञ्जलि लिए हुए गुप्तजी हमारे सामने आते हैं। 'यशोधरा' के लिखने में प्रेरित करने वालों में यदि गुप्तजी किसी को मानते हैं तो वह है उर्मिला। उसका कहना है कि—

"भगवान् बुद्ध और उनके अद्भुत तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना। और, उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।"

उर्मिला और यशोधरा काव्य-उपेक्षितायें थीं, और उनकी जाति-मात्र समाज-उपेक्षिता है। इस उपेक्षा ने कवि के हृदय को तिलमिला दिया है। उनकी अनुभूति असन्तुष्ट हो उर्मिला और यशोधरा के साथ सीता, माण्डवी, श्रुतिकीर्त्ति, कौशल्या, सुमित्रा, देवकी और कैकेयी आदि की मूर्त्तियाँ गढ़ कर अपने सन्तोष मे लगी है। उन्होंने विविध रूप अङ्कित किये हैं, उनकी व्याख्या की है, उनकी शक्ति का निर्देप किया है। उर्मिला, घर मे जलाये गये उस आशापूत दिव्य दीप की शिखा की भाँति प्रज्वलित है जो दूर-देशगामी पुरुषों को प्रकाश प्रदान करने की कामना का प्रतीक है। उर्मिला का दीपक गुप्तजी ने झँझरीदार झरोखे में रखा है, प्रसादजी के 'आकाश दीप' की भाँति आकाश मे नहीं टाँगा, न उसे प्रकाश-स्तूप ही उन्होंने बनाया है। आकाश में टाँगा हुआ दीपक और अपनी प्रखर प्रकाश धारा-प्रवाह वाला प्रकाश-स्तूप दोनों मे जिस 'अहं' का जो रूप प्रगट होता है उर्मिला उससे भिन्न है, और उनसे अधिक शक्ति और संवेदनाशील है। यह कह कर उर्मिला का निरादर कर देने से, कि उसमें विश्व-अनुभूति और विश्व-प्रेम नही, उसमें प्रकाश-स्तूप-सी प्रकट उपादेयता नहीं, जहाजों के लिए प्रत्यक्ष प्रकाश नहीं, वस्तुतः उसका रूप क्षुब्ध नही हो जाता। उर्मिला को और अधिक निकट से समझने की आवश्यकता है। विद्युत के व्याप्त अप्रत्यक्ष (Latent) रूप की भाँति उर्मिला मे एक अनिर्वचनीय ज्योति व्याप्त है, जो उससे अधिक शक्तिशील और संजीवन-शील है—उसमे विश्व-प्रेम की घोपणा नहीं, व्याप्ति है—और वह व्याप्ति बहुत ही दृढ़ आधार पर है। उसी मे लक्ष्मण की सारी ओजस्विता का रहस्य है—

जाग रहा है कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है

भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है—

यह 'योग' उर्मिला के चरित्र के प्रकाश से ही सम्भव है। लक्ष्मण के प्रति उसका प्रेम और लक्ष्मण के कर्त्तव्य पालन निमित्त उसका सहर्ष विरह-वरण और अपने उस विरह को संकुचित करते करते अपने तक बिल्कुल अपने तक कर त्याग की वरद् अग्निमय हो जाना केवल लक्ष्मण-निमित्ति नहीं। ऐसी उर्मिला की आवश्यकता न वाल्मीकि को थी, न तुलसीदास को—ऐसी सृष्टि गुप्तजी के ही हाथों होनी थी—उनकी उर्मिला में जितना रोना है उतना ही गाना है, जितनी अवरुद्ध है उतनी ही मुक्त है, जितनी छिपी है उतनी ही खुली है। फिर उसमें वीर रमणीत्व ने तो एक अलौकिक दीप्ति उपस्थित कर दी है। उनकी उर्मिला का दीपक घर-घर में जलाया जा सकता है—इसलिये नहीं कि आज स्त्रियों को उर्मिला-सा विरह-व्यथित होना पड़ता है, वरन् इसलिए कि उसका अपने जीवन की अभिव्यक्ति का अर्थ हरेक जीवन को पगडण्डी से उठा विशाल विश्व-संवेदना की अनुभूति के राजमार्ग पर ला खड़ा कर सकता है। किसी और रूप में उर्मिला को समझना उसके स्वभाव के विपरीत और अपनी कसौटियों से जाँचना है। उर्मिला वियुक्त है, पर यशोधरा त्यक्त है किन्तु फिर भी ऐसी स्त्री है कि भगवान की तपस्या की विभूति क्षमा की भी वास्तविक परीक्षा उसी के पास होती है—और वह स्वयं उसका तो जीवन-सूत्र फैला-फैला बुद्ध तक रहता है। बुद्ध की पतङ्ग उड़ती है तो क्या डोर और डोर के आश्रय को भूला जा सकता है। भगवान के स्थित-प्रज्ञ कोमल हृदय में, जिसमें मानव-प्रेम का स्रोत उमड़ रहा है—जिसमें समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदान और बलिदान भर नहीं व्यष्टि पुनरुज्जीवन भी है—'गर्विणी' गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और

महत्ता की भूमिका बिना क्या कोई अस्पष्टता नहीं आ जाती ?—ये दोनों नयी वस्तुयें हैं—हिन्दी के उपन्यासकार और नाटककार भी ऐसा रूप उपस्थित नहीं कर सके—अन्य साहित्यों से तुलना करने का अवसर नहीं। उर्मिला और यशोधरा के साथ कौशल्या और सुमित्रा तथा माण्डवी को मिला कर गुप्तजी के स्त्रीत्व की परिभाषा पूर्ण होती है। कितना कलामय है भरत-माण्डवी का मिलन और संलाप ! एक आकर्षण अनन्त अर्थ से अभिभूत ! तपोमूर्ति भरत निस्तब्ध, निर्जन मूक और मौन—अनन्त प्रलय की विकच घनीभूत उष्मा रहित नितान्त शान्त किन्तु प्रोद्भासित अग्निशिखा के पिण्ड से—एकान्त मे अपने मन मे मग्न भरत ! और वहीं माण्डवी रूपिणी गति का प्रवेश ! एक चिर मिलन काल और गति का माण्डवी की कल्पना गुप्तजी की स्त्री मूर्ति को पूर्ण करने के लिए कितनी अपेक्षित है !

यह कहना कि गुप्तजी की स्त्रियाँ त्याग, अनुराग और स्वाभिमान की मूर्तियाँ हैं—साधारण बात भी कहना नहीं है, क्योंकि वे इससे कहीं अधिक कुछ हैं—यह 'कुछ' है 'स्त्रीत्व'। अब मातृ भावना देवकी-कौशल्या-यशोधरा से बनती है, पर उसमें ये सब कैकेयी के समान नग्न मातृ-भावना की मूर्तियाँ नहीं। मातृ भावना पुत्र के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने के लिए प्रस्तुत है। वह सृष्टि को परिचालित रखने के लिए एक उन्मत्त और विक्षिप्त प्रेरणा है। कैकेयी में कवि ने स्त्री की नयी व्याख्या-सी रखी है। बर्नार्ड शा ने आधुनिक दृष्टि से स्त्री को कई रूपों में समझने का उद्योग किया है, उसका एक गम्भीर और नव्य प्रयत्न यह कथन है कि—

"स्त्रियाँ मनुष्य जाति का शिकार शेरनियों की तरह कर रही हैं, और वह भी प्रकृति का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए। वह मनुष्य से वही सङ्कल्प करा लेती हैं जो मनुष्य का नाशक है;

ऐसा वे अपना मन्तव्य पूरा करने के लिए करती हैं। वह मन्तव्य न तो उनका अपना सुख है, न मनुष्य का ही, किन्तु वह है प्रकृति का। एक स्त्री में जीवन-स्फूर्ति सृजन की अन्ध उन्मत्त प्रेरणा है। वह उस पर आहुत हो जाती है, तब भला वह मनुष्य को क्या छोड़ेगी।"*

कैकेयी में ऐसी ही स्त्री की मातृ-भावना का कुछ-कुछ आभास मिलता है। स्त्री प्रकृति की क्रियामात्र होने के कारण पुत्र पर ही अपना सारा ध्यान लगा देती है। पुरुष उसके लिए उसी प्रकार निमित्त है जिस प्रकार वह स्वयं है। कैकयी ने दशरथ और उनकी पीड़ा की चिन्ता न की। विश्व-क्रीड़ा का उसे भय न था, उसका सारा प्रयत्न और सारा उद्योग एक भरत में केन्द्रित था। इसीलिए जब उसे यह आशंका हुई कि दशरथ ने भरत पर सन्देह किया है तो उसकी मातृभावना और वत्सल-स्नेह चीत्कार कर उठा—

'भरत से सुत पर भी सन्देह
बुलाया भी न उसे जो गेह'

सन्देह वैसे ही विकराल घातक है, विप-बीज है, फिर कैकेयी में तो स्वभावतः ही मातृभावना प्रबल थी, वह अब दशरथ से कैसे सहानुभूति रख सकती थी। उसका मातृ-हृदय प्रकृति के सृजक-स्फूर्ति के तत्वों से बना हुआ हृदय क्या मूक रह

---

*Women are like lionesses preying upon man-kind and that for fulfilling the purpose of Nature. She makes man with his own destruction to fulfill her purpose, and that purpose in neither her happiness nor yours, but Natures. Vitality in a woman is a blind fury of creation. She sacrifices herself to it, do you think she will hasitate to secrifice you.

—Man and Superman

सकता था। उसने कैकेयी के विवेक को जर्जरित कर दिया, पर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए—वत्सलता के लिए उसने सब कुछ आहुत कर दिया—कितने मर्म-भेदी शब्द हैं:—

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा ?

उसकी वत्सलता को सबसे अधिक ठेस भरत के द्वारा लगी। उसे ऐसा कुछ भय भी था। उसने भरत से आग्रह भी किया कि संसार चाहे कुछ कहे, पर हे पुत्र, तू अन्यथा मत समझना। पर यह न हुआ। प्रकृति अपने लाड़लों को हठी बनाती है। भरत ने माता की चरम वत्सलता को ठुकरा दिया। कैकेयी फिर भी मा रही। उस पर सब जगत ने थूका, घृणा की दृष्टि से देखा, पर ठीक कोई न समझ सका। वस्तुतः कोई भी नग्न वस्तु अपने ही रूप मे अबोध्य-सी हो जाती है। उसे ठीक कौन समझ सकता ? गुप्तजी ने कैकेयी के साथ उसका प्रबल पक्ष रखकर वस्तुतः न्याय किया है।

कैकेयी के चित्र की रूप-रेखायें तो अन्य कवियो ने कुछ अस्पष्ट खींच भी दी थीं, किन्तु कहीं-कहीं धब्बे थे जिससे उसका रंग स्पष्ट नहीं दीखता था। उसमें गुप्तजी की सहानुभूति पूर्ण कूचियों से एक अलग उभार आगया है। उसका सारा अभिमान विमर्दित हो गया है। वह नैतिक अभिशाप से ग्रसित प्रकृति है, जो सृजनोल्लास के फल के हरे जाने पर अपने क्षुब्ध हृदय को लिए बैठी है और सोचती है कि क्या मैंने कोई भीषण पाप कर डाला। संसार की ग्लानि से उसके हृदय में मन्थन नहीं हुआ, पर उसका फल 'भरत' ही जब उसे विफल कर देता है तब उसका खोखला हृदय एक अधीरता और एक शून्यता का अनुभव करता है, तब वह कह सकी है :—

यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को।
मैं बैठी ही रह गयी लिए इस उर को।

तब पश्चात्ताप की प्रचण्ड शिखा उसे गलित-मान करने लगी। चित्रकूट पर कितने हताश और क्षोभपूर्ण उसके करुण शब्द हैं:—

पर महादीन हो गया आज मन मेरा

क्यों ? सबका रहस्य वही है, जीवन स्फूर्ति की फल-च्युति:—

हा लाल ! उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।

इस मातृत्व की सात्विक संयत और त्यागवती गम्भीर अवस्था कौशल्या में है।

स्त्रियों के चरित्र और चित्रों की व्यवस्था द्वारा गुप्तजी ने बहुत कुछ अभिव्यक्त किया है, उनमें जीवन का अमर सन्देश है। और यह पंक्तियाँ तो स्त्रियों की कितनी पूर्ण व्याख्या है :—

'अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !'

गुप्तजी की कला

गुप्तजी की कला कोमल है, उसमे उत्साह आद्योपान्त प्रवाहित है। आशावादिता और प्राचीन संस्कृति में विश्वास ने उसे सुखद और श्रद्धा की वस्तु बना दिया है। राष्ट्रीय और कौटुम्बिक विधान के उच्च भावात्मक विकास का उनका सन्देश उसे 'शिव' बना देता है। प्रकृति के वर्णन मे सुन्दरता केलि कर रही है। वे यद्यपि रहस्यवादी अथवा छायावादी कवि नहीं, पर उनकी अभिव्यक्ति की शैली को इन्होंने भी अपनाया है। 'झङ्कार' में इसी शैली में और कुछ ऐसे ही विषयों पर इन्होंने रचनाएँ की हैं, पर इससे ये आधुनिक छायावादियों की कोटि में नहीं आ सकते। इन्होने तुलसी, विहारी और केशव की शैली का भी अनुकरण किया है। उर्मिला तथा यशोधरा का विरह-वर्णन कुछ ऐसे उदाहरणों से युक्त है जिसमे बिहारी आदि का अनुकरण है। पर इससे ये रीतिवादी कवि नहीं हो जाते। शैली में उपाध्यायजी के 'प्रिय-प्रवास' का भी कहीं-कहीं अनुकरण है—यथा राम के अयोध्या छोड़ते समय और उर्मिला के वियोग में पूर्वेतिहास की कथा। इससे केवल यही कहा जा सकता है कि इनमें एक प्रतिनिधि कवि की तरह भूत का भाव और वर्तमान का प्रभाव, भावी-मार्ग-प्रतिष्ठा के रूप में, परिलक्षित होता है।

छायावादियों की-सी शैली इनकी सहायक होकर आई है, निरपेक्ष नहीं है। इस नए वाद की इस विशेषता को ही इन्होंने ग्रहण किया है कि प्रकृति में मानवीय व्यापारों का आरोप किया है:—

कहीं सहज तरु तले कुसुम शैया बनी,
ऊँघ रही है जहाँ पड़ी छाया घनी,
घुस धीरे से किरण लोल दल पुंज में,
जगा रही है उसे हिला कर कुञ्ज में,
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट सी पलट लेटती है वहीं।

दूसरे, मनस-भावना-यन्त्र को एक दूसरा ही भाव—हमारे इस गात जैसा चलता फिरता दिखाना, जिसमे कहीं पूर्व स्मृतियाँ झाँकती हैं, कहीं कोमल भावनाएँ हृदय की तंत्री बजाती हैं, कहीं वे पत्ती की तरह अनन्त में मँडराती हैं—जहाँ स्वप्न अपना एक ही रँगीला नाट्य् करते हैं, और इस स्थूल जगत से कहीं अधिक विश्वसनीय और वास्तविक अस्तित्व रखते दीखते हैं —

कहती मैं, चातकि, फिर बोल।
ये खारी आँसू की बूँदें, दे सकती यदि मोल।
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहीं पट खोल,
देख आपही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।
जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल,
और सन्न से रहे, सो रहे, ये भूगोल खगोल।
न कर वेदना-सुख से वञ्चित, बढ़ा हृदय हिन्दोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल।

इस युग की प्रधानता स्वरूप गुप्तजी भावुक कवि हैं। वे

रस की अभिव्यक्ति रीतिवादी कवियों की तरह कुछ रूढ़ कवि-परम्परा के ही अनुसार नहीं करते, वे उसमें नवीन भाव-दृष्टि-कोण को भी ले आते हैं। अतः उनमें भावुकता अधिक आजाती है।

कवि वस्तुतः प्रतिनिधि कवि है, वह महाकवि है। उसमें ऊहा है, सुन्दर कल्पना है, वर्तमान भावुकता है, रसमयता है एवं है सब के लिए अमर सन्देश।

द्वापर

गुप्तजी की आज तक की सभी रचनाओं में 'द्वापर' का एक निराला स्थान है—विषय, अभिप्राय, शैली तथा कला, इन सभी दृष्टियों से द्वापर में कवि ने अपना अभिनव रूप उपस्थित किया है। 'साकेत' के राम और 'यशोधरा' के बुद्ध ने जिन समस्याओं को रूप दिया है उनमें नारी विधि-विहित भार्या ही रही है—उनके समक्ष किसी न किसी रूप में पति-कर्त्तव्य में सहयोग देने का भाव रहा है। वे कर्त्तव्य की शिला पर सिर पटक-पटक कर रोई हैं पर शिला का आदर हृदय से नहीं जाने दिया और अपना कपाल भी नहीं फोड़ा। विरह-विदग्ध उर्मिला है—

> मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
> जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप।

उनके लिए यह विरह ही पति के चले जाने के बाद जीवन सम्बल है, पर यह विरह-व्यथा परिस्थितियों वश ही सही उसने स्वय अपनायी है—

> कहा उर्मिला ने—हे मन। तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
> आज स्वार्थ है त्याग-भरा। हो अनुराग विराग भरा।

जिसे उर्मिला घर रहकर सिद्ध करना चाहती है उसे सीता साथ जाकर करना चाहती है—

मुझ अर्द्धांगी बिना अभी—
हैं अर्द्धाङ्ग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही—

पति के साथ पूर्ण सहयोग, अपने ऊपर घोर शासन और अत्याचार करके भी, यही मन्त्र है।

पर यशोधरा की स्थिति उर्मिला से भिन्न है—यशोधरा के बुद्ध उसे निद्रामग्न छोड़ गये है, उसे त्याग गये हैं—इसीलिए यशोधरा को अपने अन्तर में टिकने का वह सहारा नहीं जो उर्मिला को था, पर यशोधरा के पास है 'राहुल' जो उर्मिला के पास न था, बाहर का सहारा। यशोधरा का यह उपालम्भ तीखा होते हुए भी सत्य है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

राहुल का सहारा यशोधरा को भारी सहारा है, इसीलिए वह उर्मिला से अधिक सावधान है, पर वह इस व्यथा से व्यथित है कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सका, इसी कारण जहाँ उर्मिला यह कल्पना कर सकती है—

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी बन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूं। रहूं निकट भी दूर।

× × ×

बीच-बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट
रहें रत वे निज साधन में

जाती जाती, गाती गाती, कह जाऊं यह बात—
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात।
प्रेम की ही जय जीवन में

गोपा उसे पास भी नहीं फटकने दे सकती—वह तो अपनी इसे परीक्षा समझती है। उर्मिला प्रेम और कर्तव्य के अभेद से सुखी है, गोपा प्रेम और कर्त्तव्य के भेद से दुखी, ग्लानि और मान से उद्बुद्ध हो उठी है—

क्यों कर सिद्ध करूं अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

× × ×

सिद्धिमार्ग की बाधा नारी! फिर उसकी क्या गति है?

इसीलिए जब भगवान बुद्ध बिलकुल निकट आ गये हैं, मगध में, तब शुद्धोदन उससे कहते हैं—

अब क्यों विलम्ब किया जाय बेटी, शीघ्र तू,
प्रस्तुत हो! यह रहा मगध, समीप ही,

पर गोपा कहती है:

"किन्तु तात! उनका निदेश बिना पाये मैं"
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँ भी?

और जब महा प्रजावती उसे सुझाती है:

"स्वामी के समीप हमें जाने से स्वयं वही
रोक नहीं सकते हैं, स्वत्व आप अपना
त्याग कर बोल, भला तू क्या पायगी

तब तो यशोधरा का उत्तर यही होता है:

उनका अभीष्ट मात्र! और कुछ भी नहीं।
हाय अम्ब! आप मुझे छोड़ कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे!

तो यशोधरा तक—द्वापर से पहले तक हमे भार्या-जाया, मातृत्व के लिए मिलती है, कर्तव्य से बंधी।

फिर साकेत और यशोधरा का विषय राम और बुद्ध चरित से सम्बन्धित है—'कर्तव्य' के कठोर केन्द्र पर बलि होती हुई गृह की अन्तर व्यापिनी प्रेम-त्याग मयी तपस्या की स्वस्थभीति को पार्श्व में लिए साकेत आर्य नागर भाव फैलाने और पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने की दिव्य प्रेरणाओ का फल है, तो यशोधरा भग्न पत्नित्व की मातृत्व मे मानवती समाधि सँजोये नारी की पुरुष-यज्ञ के लिए, निज और निजेतर के प्रति कर्म और तप की समस्या है। इन उद्देश्यों में राम की सर्वजन ग्राह्य रूप-रेखा में कोई अन्तर कवि नहीं ला सका, न बुद्ध को ही कोई नया रूप ग्रहण करा सका है—उनके चरित्र को प्रांजल बनाया है, उनके मानव को मानव बना दिया है। कवि ने यहाँ तक काव्य मे यही प्राञ्जलता का कौशल प्रकट किया है।

फिर, द्वापर से पूर्व तक प्रबन्ध और प्रगीतिता के समन्वय की शैली को तो लिया पर (objective) पदार्थिव दृष्टि का प्राधान्य रहा, यशोधरा मे कथा-सूत्रता की ओर उतना भी आग्रह नहीं रहा था, जितना साकेत में था, निश्चय हो साकेत मे भी कथा-सूत्रता और कथा-संयोजन की घनिष्ठता (compectness) को कवि ने विशेप महत्त्व पूर्ण नहीं समझा—भाव के लिए वस्तु की अवहेलना की क्षीण प्रवृत्ति साकेत में भी है, पर यशोधरा में वह और भी प्रबल हो उठी है—कथा-क्रम तो बना हुआ है पर सूत्रता (contiguity of story) का अभाव हो गया है। प्रगीतिता (lyrical quality) बढ़ गयी है। पर वह भाव संयुक्त होते हुए भी, विरह-विदग्ध होते हुए भी मानसिक भाविवता (mental subjectivity) तक नहीं पहुँच पायी—यही क़ारण है कि उसका रूप 'संवादों' (dialogues)

का हो गया है।

पर द्वापर में हमें इन सब तत्वों से भिन्नता—एक दम भिन्नता मिलती है—'जयद्रथ-वध' में कृष्ण को स्मरण कर कवि इस महापुरुष को भूल बैठा था—राम-चरित्र के आग्रह में महाभारत भी विकटभट, 'त्रिपथगा' में होकर भी कवि के लिए विस्मरणीय हो गया था। विशद रामचरित की व्याख्या करके, उर्मिला के संकेत से 'यशोधरा' को लाकर—अर्थात् आर्य-संस्कृति के गर्व के साथ लोक-श्रद्धा तक पहुँच कर अब वह क्या करे? राम ने भू पर स्वर्ग बनाने का उद्घोप किया—उसका आधार था कौटुम्बिकता :

सुनो, मिलन ही महा तीर्थ संसार में,
पृथ्वी परिणत यहाँ एक परिवार में,
एक तीसरे हुए मिले जब दो जहाँ
गंगा-यमुना बनी त्रिवेणी ज्यों यहाँ।
त्याग और अनुराग चाहिए बस, यही

इस 'त्याग' में आर्यों का आदर्श है :

"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।"

और उस कौटुम्बिकता का अर्थ है आर्य कुटुम्ब—अनार्यता ऋत्तत्व, वानरत्व और राक्षसत्व से मुक्ति :

"बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष-वानर-से
मैं दूंगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से
चल दण्डक वन में शीघ्र निवास करूंगा,
निज तपोधनों के विघ्न विशेष हरूंगा।
उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूंजे गिरि-कानन सिन्धु-पार कल्याणी।

अम्बर में पावन होम-धूम घहरावे
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे
× ×
आहुतियाँ पड़ती रहें अग्निमें क्रम से,
उस तपस्त्याग की विजय-वृद्धि हो हमसे।
मुनियों को दक्षिण देश आज दुर्गम है।
बर्बर कौणप-गण वहाँ जम्र-यम-सम है।
वह भौतिक मद से मत्त यथेच्छाचारी
मेटूँगा उसकी कुगति-कुमति मैं सारी

इस सम्पूर्ण आर्यत्व प्रसार में वैष्णवीय करुणा होते हुए भी, है वही हिंसा का क्रूर ताण्डव—

मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जावेंगे
अपनी लक्ष्मी लिये बिना क्या घर आवेंगे ?

पर इसमें उर्मिला ने दूसरों के लिए भी करुण रखी है:

'गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं'

राम के चरित्र में इस कठोर कर्म द्वारा आर्यत्व के प्रसार और मर्यादा-रक्षा का भाव लेकर कवि उर्मिला से वैष्णवीय भावना की याचना कर रहा था तो उतर आयी यशोधरा—यशोधरा के निमित्त बुद्ध—ओह, पर यह बुद्ध क्या है—किसलिए :

'हे शोक, न कर तू रोक टोक,
पथ देख रहा है आर्त्त लोक,
मेटूं मैं उसका दुःख-शोक,
बस लक्ष्य यही मेरा ललाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम!
मैं त्रिविध दु.ख-विनिवृत्ति-हेतु
बाँधु अपना पुरुषार्थ-सेतु ;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु,

तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम!

वह कर्म-काण्ड ताण्डव-विकास,
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग् यजु और साम!

बुद्ध तो आये यशोधरा के साथ भूमिकावत् पर उन्होंने जो समस्या खड़ी की वह गुप्तजी के लिए आकर्षक थी। गुप्तजी में वैष्णवत्व है—

'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने' पीड़ा के ज्ञान में अहिंसा और लौकिकता है। बुद्ध ने उसे—लौकिकता को—सब से बड़ी प्रेरणा (Impitus) दी तो यह समस्या आकर खड़ी हो गयी।

द्वापर की भूमिका में गुप्तजी ने लिखा है—

"परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी किसी कारण से। यह भी—द्वापर-सन्देह की ही बात है।"

उपरोक्त काव्य-मनोवृत्ति के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो सकता है कि राम-भक्त गुप्त, राष्ट्र-भक्त गुप्त, गान्धी-भक्त गुप्त वेद और लोक, आर्य और जन इस सिद्धान्त को किस रूप में किस तरह ग्रहण करे, किस तरह ग्रहण करे!! यह 'द्वापर' है। अब इसलिए कृष्ण को कवि ने जब लिया तो, या बुद्ध को/भी जब लिया तो, तुलसी की भाँति सर्वदेव परिशमनाय नहीं लिया, समन्वय के अर्थ नहीं, अपनी विशेष मनस्थिति के उद्गार के लिए। तुलसी अपनी भाव-धारा में जैसे निश्चिन्त और हृष्ट थे, वैसे गुप्तजी नहीं। तुलसी जैसे एक मार्ग को लेकर चल पड़े,

और उसके अन्तर आलोड़न और विलोड़न को एक निश्चित कसौटी दे सके, वह गुप्तजी के लिए इस क्रान्ति युग और अर्थ-युग मे संभव नहीं था, नित्य नयी समस्याओं का जहाँ विधान हो रहा हो, वहाँ गुप्तजी के विकास और गतिशील स्वभाव के अन्दर यह नहीं हो सकता कि वह किसी सिद्धान्त के शमनार्थ राम और कृष्ण दोनों पर कविता कर समन्वय की स्थापना करे। गुप्तजी का सिद्धान्त जड़ नहीं, 'लोक' की ओर बुद्ध के द्वारा उनका ध्यान आकृष्ट हुआ, और वैष्णवीय हृदय भी आर्यों के संस्कृत-विशिष्ट जन-मात्र की ही हित-दृष्टि से असन्तुष्ट हुआ, और उसने कृष्ण को फिर अपने सामने खड़ा पाया—यह हमें कहने दीजिए कि राम के आर्यत्व की अपेक्षा वय वर्द्धन के साथ राम-नाम का आकर्षण वढ़ गया। बुद्ध के साथ भी वह राम नाम आया—

हे राम तुम्हारा वंशजात,
सिद्धार्थ तुम्हारी भाति, तात,
घर छोड़ चला यह आज रात
आशीष उसे दो लो प्रणाम,
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

और तुलसी के समान राम मे अनन्यता का भाव यों व्यक्त करते हुए भी :

धनुर्बाण या वेणुलो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढने से रहा राम ! दूसरा रंग।

राम ने अपना नाम ही द्वापर मे वचा रखा है :

राम भजन कर पाचजन्य तू,
तेरा दिया राम, सव पावें,
जैसा मैंने पाया।
राम राम ! हा ! ठहरो, ठहरो।

एक बात यहां यह भी कहनी ही होगी कि तुलसी की राम-सम्बन्धी अनन्यता-काव्यगत अनन्यता-भी उतनी ही थी जितनी जीवन के धर्मगत। उस काल में तुलसी का काव्य उनके धर्म में एकाकार था, यही कारण है कि अनेकों व्यक्ति तुलसी को संत-महात्मा मान कर ही बस कर लेते हैं; पर बीसवीं सदी में ऐसा होना असम्भव है धर्म की राह निजी-जीवन की वस्तु है, वह कवि-मार्ग से पृथक है; और गुप्तजी में भी ऐसा ही है, यद्यपि उन्होंने भरसक यह चेष्टा भी की है कवि-मार्ग और जीवन-मार्ग के विश्वास एक होकर चलें। इष्टदेव और काव्य-गत भावना में तादात्म्य हो उठे, पर साकेत लिखने में भी इष्टदेव की धार्मिक रूप-रेखा वहाँ निखर नहीं सकी। तो राम और कृष्ण को एक मानते हुए भी गुप्तजी ने राम से चल कर द्वापर में कृष्ण का एक और रूप ही खड़ा कर दिया है। राम की व्याख्या करते हुए वे उन्हें लोक-हितकारी, मर्यादा-रक्षक बनाने में भी जो रूप इतिहास और काव्य ने हमें दिया है उससे कोई अनोखी बात वे नहीं कह पाये थे—द्वापर में 'कृष्ण' का रूप ही कुछ और है; राम के जीवन की वे कोई ऐसी घटना सामने न ला पाये थे जिसे काव्य या इतिहास-पुराण में विशेष महत्त्व न मिला हो; पर कृष्ण के चरित्र का उल्लेख करते हुए इस द्वापर में उन्होंने 'विधृता' को स्थान दिया है—उर्मिला भी उपेक्षिता थी, यशोधरा भी उपेक्षिता—इनके पतियों की इतनी यश-प्रशस्ति हो और इनके लिए दो शब्द भी लेखिनी से द्रवित न हों—कवि-कुल पर यह कलंक था जिसका परिहार गुप्तजी ने किया। पर 'नारी' को यों उपेक्षिता पाकर उनकी कल्पना और आगे भी मचल उठी—और वे कवि की असहृदयता पर ही क्षुब्ध होकर नहीं रुके। मानव के नारी के प्रति ऐतिहासिक अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध उनकी करुणा उत्कण्ठित हो उठीं, और 'विधृता' बन आयी। जो कथा भागवत

तो फिर क्या होता है इससे,
कहीं रहे यह काया ?

'विघृता' शीर्षक से ही नहीं, इस प्रताड़िता का उल्लेख बलराम और ग्वाल बालों ने भी अपने कथनों में किया है। और इस सम्बन्ध में द्वापर ने एक बिल्कुल नई समस्या उपस्थित की है। यहाँ हमें इस काल की साहित्यिक परिस्थिति का भी कुछ ज्ञान आवश्यक होगया है। रवीन्द्र के साहित्य-क्षेत्र में प्राधान्य पा जाने से हिन्दी में रोमांचक कविताओं की दिशा रहस्योन्मुख हो गई थी और एक पुकार उठी थी "कला कला के लिए"। कलावादी उपयोगिता वाद का विरोधी था। इस संबंध में भी गुप्त जी के अपने विचार थे, और हम देख चुके हैं कि हिन्दू की भूमिका में और साकेत मे कला की विवेचना करते हुए जैसे उन्होंने इसी सामयिक समस्या ,पर अपना मत प्रकट किया हो। पर काव्य से अधिक शक्तिशाली Fiction literature कथा-साहित्य हो चला था। यह साहित्य, कला और उपयोगिता के प्रश्न को छोड़ कर आदर्श के विरुद्ध यथार्थ की ओर आकृष्ट हो उठा था। Realist यथार्थवादी व्यक्तियों के सामने अन्य प्रश्नों के साथ बड़ा प्रश्न (Sex Psychology) यौन-मनोविज्ञान का था। यह आपके उपचेतना के आविष्कार और उसके आधार पर (Psycho Analysis) मनोविश्लेषण शास्त्र के उगते हुए भावों से अत्यधिक उग्र हो उठा था। फलतः स्त्री-पुरुष की विवेचना मा, बहिन, बेटी को अतिक्रमण कर गयी और अपनी स्थापना में उसने यह दिया कि मूलतः वहाँ ऐसा कोई नाता नहीं सब मे यही काम भाव (Oedeipus Complex) रूपान्तरित होकर काम कर रहा है। Shaw 'शौ' ओर इब्सन के नाटकों ने इन आधुनिकतम विज्ञान के विचारों को पात्रों में चरितार्थ कर दिया और उनके सामाजिक

अर्थ (Social Implication) को भी स्पष्ट करने का उद्योग किया। हिन्दी के कथा-साहित्य में भी इन सभी नाते-रिश्तों का उल्लंघन कर स्त्री-पुरुष का नर-नारी के रूप में अपने अवरुद्ध काम के लिए मार्ग ढूँढने का चित्रण होने लगा। पुरुष ने स्त्री को नग्न रूप मे इन कहानियो और उपन्यासों में ग्रहण किया—और यह मनोस्थिति ३४ से ३८ तक हिन्दी मे विशेष प्रवल रही। विधृता को उस ब्राह्मण ने रोका, इससे कई प्रश्न उठ खड़े हुए। (१) हाय बधू ने क्या वर विपयक एक वासना पाई ? (२) कुछ भी स्वत्व नही रखती क्या अर्द्धाङ्गिनी तुम्हारी ? (३) कृष्ण अवैदिक ? और राम भी ? (४) कर्मकाण्ड के इन भाण्डों मे वह रस कहाँ धरा है ? इन समस्याओं से पिछली दो धर्म और विश्वास सम्बन्धी पुरानी भाव और धर्म क्रान्तियाँ सम्बन्धित हैं। पहली दो आधुनिक मनोवृत्ति को भी सामने लेकर है—और पहली के उत्तर में कवि ने 'विधृता' से ये शब्द विस्तृत कराये हैं—

हाय ! बधू ने क्या वर विषयक
एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका
पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की
नग्न मूर्ति ही आई ?
माँ, वेटी या वहिन हाय ! क्या
संग नही वह लाई ?

इनमें 'विधृता' ने पति के संदेह का निवारण कर आधुनिक मनस्शास्त्रियों से जैसे प्रश्न कर दिया, और ध्वनि से उत्तर दे दिया है कि भूल गये हो, माँ, माँ, है, वेटी, वेटी है और वहिन वहिन है। किसी भी कम्प्लेक्स (Complex) का अंकुरोद्भव

मनुष्य के मानस में हो वह इन सम्बन्धों का अतिक्रमण नहीं कर सकेगा। ये सत्य हैं, इनके साथ किसी प्रकार का Suppression विक्षोभ हो नहीं सकता। इनके साथ की सहज भावना बढ़ कर विश्व-कुटुम्ब में भी विस्तृत हो सकती है, तो फिर अपने 'घर' को इस भावना पर दृढ़ करके क्यों न चलो, 'बाहर' के आक्रमण का भय क्यों रखो—

अथवा तुम्हें दोष क्या, युग ही
यह 'द्वापर' संशय का,
पर यदि अपना ध्यान हमें है,
तो कारण क्या भय का?

घर और बाहर की इस समस्या को इसी आधार पर सुलझाया जा सकता है। नहीं तो नारी का मातृत्व विफल रोदन है—

उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय तुझी से नारी!
जाया होकर जननी भी है,
तू ही पाप-पिटारी।

दूसरी समस्या में इब्सन के गुड़िया घर (Dolls house) की प्रतिध्वनि है। पति और पत्नित्व का सूत्र कितना कोमल है, पर पत्नी क्या दासी है? क्या उसका कोई अधिकार नहीं?

हम तुम दोनों पति-पत्नी थे,
वह विधृता कहती है,
दीक्षित इस अध्वर में
पर मेरा पत्नीत्व मिटाया
किसने यह पल भर में?

इतना क्षणभंगुर होगा यह पत्नित्व—वेद-विधि से प्राप्त हुआ यह सम्बन्ध, यज्ञ-मन्त्रों से पूत और देव-साक्षियों से गौरवान्वित, निज-शपथों से दृढ़ हुआ यह सूत्र इतना क्षणस्थायी—

पर मेरा पत्नीत्व मिटाया
किसने यह पल भर में ?

नोरा ने—इब्सन की नोरा ने (disellusioned) निर्भ्रम हो जाने पर जो बातें हेल्मर से कहीं उनके कुछ उद्धरण देने आवश्यक हैं। ये उसने अपने विवाहति पति से कहे हैं:—

तुमने मुझे कभी प्यार नहीं किया ? तुम मेरे प्रेम में रह कर केवल अपनी तबीयत बहलाते रहे।······

"मैं पिता के हाथ से तुम्हारे हाथ में आयी। तुम अपने चाव के मुताबिक सब काम किया करते थे, और मुझे अपने चाव को भी तुम्हारे ऐसा बनाना पड़ा।········ "जब मैं पीछे की ओर देखती हूँ तो मालूम होता है कि मै यहाँ बिलकुल भिखा-रिन सी रही—माँगा और खाया। तुम्हारा मन बहला कर मैं जिन्दगी बसर करती रही।"······और वह दुखी नोरा अपने पति को छोड़ कर चली गयी—कुछ-कुछ ऐसे ही भाव अपने उस पशुपति से कहने पड़ेंगे।

"वह गुण किसने तोड़ा जिसमें
यह जोड़ा जकड़ा था ?
नर, झकझोर डालने को ही
क्या, यह कर पकड़ा था ?
कामुक-चाटुकारिता ही थी
क्या वह गिरा तुम्हारी ?—
'एक नहीं, दो दो मालाएं
नर से भारी नारी !'

× × ×

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मैं आह ?

× × ×

कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धाङ्गिनी तुम्हारी ?

और यों निरादृता और प्रपीड़िता होने पर नोरा तो छोड़ कर जा सकी पर आर्य नारी—

'हा अवला ! आ अरी अनादर-
अविश्वास की मारी,
मर तो सकती है अभागिनी,
कर न सके कुछ नारी !"

क्योंकि

"किन्तु आर्य-नारी, तेरा है
केवल एक ठिकाना;
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट कर आना ।"

तो यों इस विधृता मे कवि ने स्त्रियों के सम्बन्ध के यौन और अधिकार सम्बन्धी दो आधुनिक दृष्टिकोणों का समावेश किया ही है और इस प्रकार विधृता के साथ 'द्वापर' गुप्तजी के अन्य काव्यों से एक निराले स्थान पर जमा हुआ है।

इन समस्याओं के साथ कृष्ण और राम के अवैदिक होने का प्रश्न है ? राम का जो वृत्त है वह आर्य संस्कृति का पोषक है ऋषि-मुनियो, यज्ञ-होम, ब्राह्मण धर्म, वैदिक-कर्म-काण्ड की सभी विशेषताओं की रक्षा और सम्मान का भाव वहां जड़ में विद्यमान है—वह आर्यों का युद्ध अनार्यों के साथ था और राम उसके नायक थे। वे लोक में पीछे उतरे । पर कृष्ण में तो अवैदिक कृत्यों का, उनके विज्ञापन का भाव प्रचुर है। विधृता के साथ अन्य नारियां भी हैं—उन्हें कृष्ण में आकर्षण है। वे कृष्ण की भार्यायें नहीं—उन्हें प्रेम है, पर वह कवि ने परकीयत्व नहीं होने दिया। राधा स्वकीया है पर विधिवत विवाहिता नहीं

इस प्रकार यहाँ कृष्ण में विधि-विरोध है। वह यज्ञ-विरोधी भी है। इन्द्र-पूजा (यज्ञ) का विरोध कर गोवर्द्धन-पूजा और अन्न-कूट का पोषक है—और कवि को संशय है कि ऐसा कृष्ण वैदिक या अवैदिक है ? यहाँ द्वापर में कवि आर्य संस्कृति का कवि न बन कर लोक संस्कृति का कवि होने चला है।

और इस काव्य की प्रणाली प्रगीतिता रूप मे तो आई है पर अन्तर वस्तु में rationality (युक्तिमत्ता) का विन्यास मिलता है इसलिए यह काव्य प्रगीत काव्य (lyrics) नहीं हो सका। पर निस्संदेह इसमे (Subjective) भाविक तत्व ही रह गया है—पदार्थिव (objective) इस भाविकता का लक्ष्य या केन्द्र बनकर रह गया है—कृष्ण जीवन से संबन्ध रखने वाले व्यक्ति जैसे 'आत्म निवेदन' करते हैं-वे अपने अन्तर भाव को अपने से व्यक्त करते हैं—Soliloquise स्वगत कथन की भाँति एकान्त में अपने में ही कहे गये पात्रो के ये गीत बौद्धिक तत्त्वों मे अवश्य बोझिल है पर सब में कृष्ण को लेकर ही ऊहा पोह है। किसी किसी पात्र के कथन स्वगत कथन न होकर कथोपकथन कहे जायँगे क्योंकि उसमें परोक्षत: दूसरे व्यक्ति की कल्पना दिखाई है। उदाहरणार्थ उग्रसेन जैसे अपनी स्त्री से ही वार्तालाप कर रहा है उनके प्रश्नों को स्वयं दोहरा कर समाधान करता चला जाता है।

इस प्रकार यह द्वापर गुप्तजी के काव्य में निराला स्थान रखता है। इसमे आनेवाले पात्रो मे एक राधा है कृष्ण के प्रेम में रत, उनकी स्मृति मे विभोर जो सान्त्वना और बोध नहीं चाहती, और जो अपना लोक उस कृष्ण के प्रेम पर निछावर कर यही कामना करती है।

मग्न अथाह प्रेम-सागर में
मेरा मानस हंस हरे।

यह राधा सब कुछ समर्पित किये प्राचीन कवियों की राधा की भांति तन्मयता की अत्युत्कृष्ट कोटि पर पहुँची हुई अपने में कृष्ण का अनुभव करने वाली कृष्णरूप धारण किये हुए :

यह क्या, यह क्या, भ्रम या विभ्रम !
दर्शन नहीं अधूरे;
एक मूर्ति, आधे में राधा,
आधे में हरि पूरे !

कवि ने राधा को शृङ्गार की जड़ शृङ्खलाओं से उठाकर समर्पण के पावन उत्कर्ष मय धरातल पर खड़ा किया है।

दूसरी है कुब्जा—सिकुड़े हुए ग्लानि से गलित पाप की भांति कुब्जवती—पर देव-दर्शन से ही कूबड़ के साथ वह पतन भी विलुप्त हो गया—नव यौवन से उसकी नस नस तरंगित हो उठी, और तब वह जो झुकी हुई केवल पृथ्वी देख पायी थी, अब नील आकाश देखने लगी और उसमें उसी मदनमोहन को और श्यामल धरा, अनल, अनिल सब में उसे वही दीखने लगा। अब उसके हृदय में आकुलता हुई—हृदय में वह था, पर चाह बाहर मंडरा रही थी। पर इस नव-जागृत नारीत्व का कुब्जा क्या करे ? उसे राधा से समवेदना है, उनका दुःख उसने पहचान लिया है, पर राधा के साथ वह अपना अधिकार भी कृष्ण पर समझती है। कुब्जा के प्रेम में भी वही पावन समर्पण है, पर प्राचीनों का वह 'सौतिया भाव' यहाँ अभाव में ही है।

फिर गोपियाँ हैं—एक तो उद्धव ने उन्हें जैसा देखा है, उन गोपियों का रूप ठीक-ठीक कह सकना, नहीं, आँक सकना क्या सहज है ? कवि ने उद्धव के बहाने उनका एक रेखा-चित्र जो गहरा होता हुआ. उनका आत्मा-चित्र बन गया है 'द्वापर' में अङ्कित किया है।

उस थकान-सी, ठीक मध्य में,
जो पथ के आई हो,
कूद गये मृग की हरिणी-सी
जो न कूद पाई हो।

× × × ×

व्यस्त-ससम्भ्रम उठ दौड़े की,
स्खलित ललित मृपा-सी

यह चित्र (Frustration) सम्भ्रान्त विफलता की गौरव और तेजमय ललित झांकी जैसा हमारे मानस नेत्रों में झूलने लगता है, "एक-एक व्रज बाला बैठी जागरुक ज्वाला सी।"

और फिर इस गोपी का वह रूप है जो वह अपने भाव-वर्णन से देती है, और इस वर्णन में आत्म-ज्ञान की—ज्ञान योग की अन्य कवियों की भांति चर्चा उठायी गई है—पर आत्म-ज्ञान राधा को क्यों न दिया जाय ? इसलिए कि उस राधा का जीवन अपने को भूले रहने में ही है :

पर वह भूली रहे आपको,
उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका
जीना और जिलाना।

ज्ञान-योग की अपेक्षा वे वियोग क्यों चाहती है ? वियोग में आकृति-प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व और कला है। माया मिथ्या नहीं। वह ब्रह्म एक है तो हममें दो बन कर ये ल झगड़े कैसे करा रहा है। वह हमारे लिये अरूप, अगोचर नहीं, निर्गुण निराकार नहीं, यदि वह निर्गुण निराकार है भी तो उसे देखने के नेत्र हमारे पास नहीं, हमारे पास तो यही चर्म-चक्षु हैं। और अब वह राजनीति के खेल में हमसे दूर जा पड़ा है। अब सचमुच ही 'निराकार-सा हुआ ठीक ही वह साकार

हमारा !' पर वास्तविक बात यह है कि 'हम अपने को जान न पाईं'।

उसको क्या जानेंगी—"और हमीं जब अन्तवन्त हैं तो वह अनन्तता कहाँ से लावें। हमारी उपलब्धि के साधन भी हमारे जैसे हैं—

इस मृण्मय में ही निज चिन्मय
पावें तो हम पावें"

इस प्रकार उद्धव के ज्ञानयोग का उत्तर देती देती गोपी की कल्पना में वृज के सौन्दर्य की कृष्णकालीन उत्फुल्लता जग उठती है।

"प्राणरूपी पांचों तत्वों में,
वह पीताम्बर आया।

और स्मरण होती आती है कृष्ण के साथ की गयी मनोरम क्रीड़ायें—जब "वन की रंग-रलियों में हम (गोपी) सब घर की गलियां भूले !" वे दिन कभी भूल सकते हैं क्या ? उन दिनों व्रज की जैसी शोभा थी वैसी क्या अब है, वे उद्धव से कहती हैं, तुम व्रज में अब आये हो जब सब कुछ विपरीत हो गया है, पर

सचमुच ही क्या स्वप्न मात्र था,
जो हमने देखा था।

तब गोपी बताती हैं कि हमने उसके लिए क्या नहीं किया—उसके सगुन के लिए घड़ा भरे ठहरी रहीं, "कर देना कैसा, अन्तर तक हमने उसे दिया है", उसे रस-गोरस भेंट किया है—फिर भी न जाने वह क्यों चला गया ? और अब जो कुण्ठित सुन्दरता, सुषमा है, मृतक प्रायः बने हुए हैं, वह केवल इस आशा में कि वह आवेगा। हमें तुम्हारा ज्ञान नहीं चाहिए इसे लौटा ले जाओ।

"हम सौ वर्ष जियेंगी अपनी
आशा लेकर उर में।

× × × ×

"हो या न हो सुनो हे साधो,
योग-क्षेम हमारा,
बना रहे उस निर्मोही पर,
है जो प्रेम हमारा !'

भक्ति के बौद्धिक हल्के रंग से रंजित सौन्दर्य-विमुग्ध, ज्ञान-विज्ञान को विस्मृत किये कृष्ण को जगाये, उत्साह धारण किये "यह विष भला कौन भोगेगा, वह रस हमने भोगा !"—आशा से जीवित-सी, गुप्त जी की वह गोपी है।

'देवकी कारावद्ध देवकी कंस के शाप की भांति अपने छै पुत्रों के घात से मर्माहत, अपने मातृत्व को यों विदरित होते देख छटपटाती हुई, शोक के हलके उन्माद से व्यस्त, कृष्ण पर आशा सी लगाये, इस व्रत से दीक्षित-सी बैठी है कि

अब अपमान छूटने में भी
क्रूर कंस के द्वारा,
मेरा लाल छुड़ा न सके तो,
भली मुझे धिरकारा !

सब कुछ खोये हुए, विमर्दित मातृत्व स्तूप पर बैठी इस देवकी से भिन्न है यशोदा—उल्लास और आनन्द से तृप्त ईश्वर के आशीर्वाद सी।

"बाहर में जन-मान्य और धन-
धान्य-पूर्ण घर मेरा,
पाया है तब देने को भी,
प्रस्तुत है कर मेरा।

लहराता है गहरा गहरा,
यह मानस सर मेरा।
वही मराल बना है इसमें,
जो इन्दीवर मेरा।

इन स्त्री पात्रों के अनन्तर पुरुष भी हैं अपनी कथा अथवा अपना मत देने और अपनी झांकी कराने को

कृष्ण हैं यह आश्वासन देते हुए कि मेरी शरण आ मैं सब पापों से तार सकता हूँ। बलराम का अन्तर-चरित्र तो सामने नहीं आता, पर वे ग्वालों को उद्बोधन करते हुए नये रूप को अपनाने और वर्तमान को महत्व देने का आग्रह करते हैं। वे यह मानते हैं कि पितरों के पथ से ही हम चलेंगे पर उस पथ को संकीर्ण नहीं रहने देंगे। पर पुरानी बातें बुसे-बासी के समान हैं, कितनी ही स्वादिष्ट क्यों न हो। ताजी सीठा भी अच्छा। फिर वे कहते हैं—मूल तत्व यदि एक है तो रूप कोई भी क्यों न हो: शर्करा से केवल मोदक ही नहीं बनते, उसी स्वाद के असंख्य पदार्थ सिद्ध हो सकते हैं। अत. तुम जो नये कृत्य करने जा रहे हो, उनमें तत्वतः यदि पूर्वजों के मूल भाव सुरक्षित हैं, उनकी आत्मा की रक्षा है तो रूप कोई भी नवीन दिया जा सकता है- अतः

"पुरखे नदियाँ तरते थे तो
तब है सिन्धु तरो तुम ।

अतः समय देखकर काम करना ही बुद्धिमानी है—

"वर्तमान, यह आयोजन है
निज भावी जीवन का,
कुछ अतीत-संकेत मिले तो
अधिक लाभ वह जनका।

और अपने युग को हीन न समझना चाहिए

"अपने युग को हीन समझना,
आत्म-हीनता होगी,

× × ×

जिस युग में हम हुए वही तो
अपने लिए बड़ा है"

अतः समय या युग की हीनता का रोना न रोना चाहिए—अतः यज्ञ-याग की दारुण हिंसा और दम्भ हमे छोड़ना होगा—

"अपनी प्रवृत्तियों का पोषण
मिष देवी-देवों का !
अमृत नहीं, वह मृतक-पिण्ड है
विष देवी-देवों का !

+ × ×

धर्म सदा सात्विक है, चाहे
कर्म कभी तामस हो।

इस प्रकार बलराम अपने ग्वाल-वालो को वेद-विहित रूढ़ प्रणालियों के विरुद्ध विद्रोह करने को तय्यार रहने का आदेश देते हैं :

प्रस्तुत रहो, कृष्ण नूतन मख
रचने ही वाला है;
अब निर्मम विद्रोह मोह पर
मचने ही वाला है।

पर यह 'मोह' पर ही विद्रोह है। वेद के विरुद्ध नहीं। क्योंकि गुप्तजी ने भी वेद से अनुमोदन पा लेने का मार्ग निकाल लिया है।

"यज्ञ-वेदियाँ हैं वे अथवा
कौटिक-कुटिया सारी !

व्यञ्जन नहीं, देव देखेंगे
श्रद्धा-भक्ति तुम्हारी ।
कम क्या घृत-दधि-दुग्ध-शर्करा,
देव-अन्न ओदन ही,
श्रुति न विरोध करे तो समझो
उसका अनुमोदन ही ।

अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस बात का वेद में स्पष्ट विरोध न हो तो उसे 'अनुमोदन' ही समझना होगा । इस प्रकार एक बौद्धिक तर्कना से गुप्तजी ने वेदों के विरोध से अपने पात्रों को बचा दिया है ।

फिर भी इस 'बलराम' में गुप्तजी क्रान्तिवादियों की भाँति हमें यह भी कहते मिलते हैं :

"नई सृष्टि के लिये प्रलय भी
प्रेक्षणीय हो हमको ।

पंचवटी में लक्ष्मण से जो हमने गुप्तजी का मत जाना था;

"परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं
किन्तु मुझे तो सीधे सच्चे
पूर्व-भाव ही भाते हैं—

इस मत में बलराम द्वारा अत्यधिक परिष्कार किया गया है ।

'पूर्व-भावों' में अपनी श्रद्धा की रक्षा करते हुए भी बलराम में गुप्तजी ने युग-धर्म को मानने और नये युग की सृष्टि का परामर्श दिया है और इसी को महत्व दिया है । अब 'पूर्व' उनके लिए 'बासी और बुसा' होगया है, मीठा या स्वादिष्ट वह कितना ही क्यों न हो । 'क्रान्ति' की रूप-रेखा पर भी वे झुके हैं, आत्मा चाहे न मान पाये हों ।

इस प्रकार बलराम द्वारा कृष्ण एक नये निर्माण का नेता

और प्रचेता चित्रित किया गया है। 'ग्वाल-बाल' भी कृष्ण को इसी रूप में देखते हैं और नये विकास पर स्वस्थ और प्रसन्न प्रतीत होते हैं—

अरे, पलट दी है काया ही,
इस केशव ने काल की।
भर दी गति-मति और ही॥

कृष्ण जन-प्रिय होकर नेता और प्रचेता होकर भी आदर्श-महापुरुष की भाँति उन गोपों के लिए हैं। वे कृष्ण के विविध शौर्य के (heroic) कृत्यों पर अपनी श्रद्धा लुटा रहे हैं। और कृष्ण के इन भोले विश्वासी श्रद्धासिक्त गोप अनुयायियों के बाद 'नारद' हैं—क्रान्ति के उपासक शान्ति के विरोधी। बलराम 'क्रान्ति' चाहते है विशेष उद्देश्य को लेकर, नारद क्रान्ति को क्रान्ति के लिए चाहते है—

शान्ति अन्त में आप आयगी,
व्यर्थ जन्म, जो क्रान्ति नहीं।

क्रान्ति जन्म को सार्थक करने के लिए अपेक्षित है, जीवन में संघर्ष रहना चाहिए, इसी मे जन की सजीवता है। वे अपने वसुधा कुटुम्ब में अवसाद नहीं चाहते। किन्तु आरम्भ में जिस क्रान्ति को नारद ने जीवन के लिए आवश्यक बताया है, वह क्रान्ति क्रान्ति के लिए होते हुए भी सर्वक्षेत्र व्यापिनी नहीं। सुधारवादी क्रान्ति है, और इस तथ्य पर निर्भर करती है कि—

अरे आग भी कभी लगानी,
पड़ जाती है हमें यहाँ।

यह तो क्रान्ति है पर—

आग लगा कर हमीं दौड़ते,
पानी की झारी को भी।

कटा खेत जलता जलता जो,
जला न दे वाड़ी को भी।

बस कूड़ा-कर्कट ही जलना चाहिए 'वाड़ी' नहीं, इस व्यवहारिक नीति पर ही क्रान्ति का सिद्धान्त गुप्तजी ने नारदजी द्वारा अपनाया है। क्रान्ति सदा रहनी चाहिए क्योंकि कूड़ा-कर्कट सदा रहेगा, सम्भवतः इसी व्याख्या से क्रान्ति को सजीवता का पर्याय माना जा सकता है। नारद इसी विगाड़ के सुधार के लिए यन्त्र घुमाते हैं। द्वापर में वे इसलिए आये हैं कि—

वेणु और ब्रजबालाओं में,
मेरा (देवकी का) नटनागर भूला।

उसे अब कर्तव्य की ओर बुलाना होगा।

उग्रसेन कंस के पिता हैं—पुत्र से दुखी पर क्षमा और उदारता से पूर्ण। कंस के लिए चिन्तित पर विवश और उसकी बहुल शक्ति के कारण उसके लिए ही भयभीत। वे अपनी भूल मानने को प्रस्तुत हैं—

लोभ वस्तुत रहा हमारा,
क्षोभ वृथा हम मानें।

वे पापी के लिए भी मृत्यु कामना नहीं करते। पापी मर कर जायगा कहाँ, फिर नया जन्म लेकर आयेगा। फिर ? कल्याण इसी में है कि वह मुक्त हो जाय। वे यह भी मानते हैं कि 'शक्ति' के साथ शिव (कल्याण-भावना) भी होना चाहिए, अन्यथा शक्ति वाधक है।

कंस तो कंस ही है—साम्राज्य लोलुप, क्रूर रक्तकर्मा, करुणा का उपहास उड़ाने वाला, प्रबलता—मत्स्य न्याय का पोषक, अहंब्रह्म, 'नर ही नारायण' की घोषणा कर अपनी पूजा कराने वाला, स्पष्ट कर्मा, पुन्य-पाप में विश्वास न करने वाला-'पुण्य-पाप क्या है, पौरुष ही एक मात्र है सार।' अविश्वासी, किन्तु

भय से व्याकुल, भावी से भयभीत—और यह भय उसमें नारद ने उत्पन्न किया है, और यों कृष्ण के भय से आकर्षित हो कर वह अक्रूर को भेजता है कि कृष्ण को बुला लावें—

और अक्रूर क्या हैं? हिमालय के आलोचक: अपनी सबलता पर गर्व मत करो। किसी के आगे तुम भी अबल हो सकते हो। जिसे बना नहीं सकते उसका नाश किस अधिकार से करते हो। वे इस बात को मानते हैं कि—

'जिओ और जीने दो' (live and let live)—क्रूर कर्मों का विरोधी है अक्रूर. वह कंस की आलोचना में कंस की बुद्धि हीनता दिखा देता है:

'भागिनेय से अपना मरना
भय उन्होंने माना
तो फिर सत्य अनृत क्यों होगा
इसे क्यों नहीं जाना ?

अक्रूर में व्रजवासियों के लिए सहानुभूति भी है। 'नन्द'—कृष्ण को मथुरा में छोड़ कर लौट आये हैं—वे भी विकल हैं कृष्ण के बिना। सारा प्रान्त उन्हें सूना लगता है, और गोकुल अपना होते हुए भी उन्हें निवास-योग्य नहीं प्रतीत होता—कैसे रह सकेंगे। वे गोकुल के पास आकर छिप रहे हैं गोकुल में कृष्ण के लिए जो आतुरता है, और उसके बिना जो विषाद है, उसे नन्द स्वयं नहीं देखना चाहते, और न अपना मुख ही उन्हें यों खुल कर दिखाना चाहते हैं।

यों इस विविध पात्रों के क्रम से गुप्तजी ने गोकुल के निवास से लेकर मथुरा जाने और वहाँ रह जाने का वृत्त सम्पूर्ण किया है। इसमें 'विधृता' को छोड़ कर शेष सभी कथा के अङ्गों पर हिन्दी में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उसमें गोवर्द्धन-धारण

और गोवर्द्धन-पूजा को साम्प्रदायिक भक्ति के परिवेष्टन से निकाल कर वैष्णवीय और मानवीय करुणा के (rational base) बौद्धिक आधार से संयुक्त कर दिया है। उसमें (humanitarion purpose) मानवीय उद्देश्य की पावनता भर दी है। इससे पूर्व के कवियों ने या तो उसे स्तुत्यात्मक रूप में धार्मिक शब्दावली में बाँध कर भक्तों के कल्याण के लिए कह कर भगवान की लीला के रूप में निरूपित किया था, या हिन्दी के नवयुग के आरम्भ में भगवान के अवतारवाद के शिकंजे से निकाल लाकर महापुरुष का महान कार्य समझ कर उपस्थित किया था। वैदिक हिंसा के विरोध में उनके अन्नकूट को रख कर एक ऐतिहासिक तत्व-दृष्टि की झिलमिल के सहारे हिंसामात्र का विरोध, और वैष्णवीय करुणा का आधार पूर्व कवियों ने नहीं बनाया था। इस प्रकार कृष्ण के कृत्यों में अभिप्रायार्थ का लक्ष्य गुप्तजी ने किया है। देवकी का कैद में होना और कंस द्वारा उसके बच्चों का मारा जाना, इस सबका उल्लेख तो परिपाटी प्राप्त है, पर इसके द्वारा गुप्तजी ने अबोध हत्याओं के विरुद्ध मातृत्व को खड़ा किया है। प्रसंग वशात् राजा-प्रजा की भी सांकेतिक विवेचना आगयी है। बच्चों के मारने में कंस के लिए कोई (Justification) कोई युक्तियुक्तता कवि ने नहीं छोड़ी :

पहले तो देवकी ने ही पूछा है

उनमें क्या था ? श्वास मात्र ही
था बस आता जाता,

× ×

पर उनके अपराध बतादे कोई झूठे सच्चे ?
दोष यहीं उन निर्दोषों का वे थे मेरे बच्चे ॥

पहले तो वह कहते हैं :

कंसराज युद्ध कहें, प्रथम ही
काँप गये थे भय से,
शिशुओं ने ही उन्हें डराया,
केवल निज संशय से
वीर-बली थे, तो उन सबको
आप अभय देते थे,
शत्रु एक उनका जो होता
उसे समझ लेते थे।

आगे और कहते हैं :

भागिनेय से अपना मरना,
सच उन्होंने माना,
तो फिर अन्य अनृत क्यों होगा,
इसे क्यों नहीं जाना?
किसी दृष्टि से भी न उचित था
बच्चों का वध करना,
वैरी के हाथों मरने से
भला बन्धु से मरना।

इस प्रकार कंस को इस काण्ड की दृष्टि से अत्यन्त ही भीरू सिद्ध कर दिया है, और उसके शौर्य और वीर्य की कलई खोल दी है। और यह सब वर्णनात्मक धरातल (discriptive plane) पर नहीं आधुनिक बौद्धिक धरातल (Intellectual plane) पर किया है।

फिर उद्धव का गोपियों के पास ज्ञान-सन्देश लाना है, जिसके द्वारा प्राचीन कवियों ने तो ज्ञान से भक्ति को, निराकार से साकार को श्रेष्ठ ठहराया था—इसके लिए नन्ददास को छोड़ कर प्रायः सभी ने विरह-व्यथा के आधार पर भाव और कल्पना की विविध अलङ्कार्य योजनायों को साधन बनाया था। नन्ददास का कथो-

पकथन दार्शनिक हो उठा था। गुप्तजी ने भी इस प्रकरण को गोपियों के साथ उपस्थित किया है—पर उन्होंने उसे न तो भक्ति का रूप ग्रहण करने दिया है, न उसे दार्शनिक होने दिया है—इसका धरातल भी बौद्धिक ही रखा है, प्रेम-विरह की बौद्धिकता में उसकी सार्थकता के लिए हल्की-सी भावात्मक स्फूर्ति भी भर दी है। इसमें उन्होंने एक बात यह भी की है कि विरह वास्तव में 'राधा' का दिखाया है, गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम और उनका प्रेम-विरह एक प्रकार से 'राधा' के प्रति सहानुभूति से से उत्पन्न है। सहेलियों में सहानुभूति का रङ्ग अत्यन्त गाढ़ा हो गया है। इसीलिए वे इस प्रकार कृष्ण के वियोग में दुखी हैं। यही कारण है गुप्तजी की 'गोपी' से हम गोपी की ओर आकृष्ट नहीं होते 'राधा' की ओर होते हैं, और हमारी भांति उद्धव भी। कृष्ण के सर्व मान्य रूप को साम्प्रदायिक क्षेत्र से निकालने का उद्योग पं० अयोध्यासिंह उपाध्यायजी ने किया था, और उन्होंने कृष्ण-जीवन की घटनाओं का विरह-वर्णन किया, और उस वर्णन में से असम्भावनाओं का निराकरण कर दिया—यथा गोवर्द्धन उठाने की घटना के वर्णन में उन्होंने बतलाया कि कृष्ण ने घोर मेघ के उत्पात से बचाने के लिए ऐसा तत्पर और सुसंगठित प्रयत्न किया कि व्रज का एक-एक बालक-वृद्ध गोवर्द्धन की गहरी दरियों में जा छिपे और किसी की किंचित भी हानि न हुई—और तब कवि ने प्रचलित धारणा का संशोधन इन शब्दों में किया है :

"लख अपार-प्रसाद-गिरीन्द्र में।
व्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

किन्तु गुप्तजी ने कृष्ण को इस धरातल से उठाकर भाविव

(objective) अधिकरण से रख दिया है—बौद्धिक क्षेत्र में—घटना क्या है द्वापर में यह भी महत्त्व पूर्ण नहीं, घटना को विविध पात्रों ने क्या समझा, कैसा देखा, या क्यों किया, यही दिग्दर्शन प्रधान हो गया है। यह केवल इसलिए नहीं कि इन्होंने 'आत्म-निवेदन' 'आत्म-कथन शैली ग्रहण की है, वरन इसलिए भी वे इन पात्रों को इसी धरातल पर लाना भी चाहते थे, और 'द्वापर' 'संशय ने सुझाया भी कि सीधे अपने शब्दों में अपने नाम से इन बातों के कहने से क्या लाभ ? क्या ये बिल्कुल तुम्हारे अपने हैं ? यही द्वापर है।

गुप्तजी की कला के लेखक की अन्य रचनाएँ

साहित्य की झांकी

कुछ सम्मतियाँ:—

भारत—"श्री सत्येन्द्रजी साहित्य के शिक्षक हैं......प्रस्तुत पुस्तक में उनके लिखे हुए ७ गवेषणापूर्ण साहित्यिक निबन्धों का समावेश है...... पुस्तक के सभी निबन्ध गम्भीर अध्ययन एवं अनुशीलन का आभास देते हैं। लेखक के विचार प्रौढ़ हैं।"

प्रताप—"श्रीयुत 'सत्येन्द्र' हिन्दी संसार के मौन साधक हैं।....आपने साहित्य और साहित्यिकों की सृष्टि में बहुत बड़ा भाग लिया है।.... साहित्य-प्रेमियों के लिए पुस्तक उपयोगी है। उन्हें इस पुस्तक से हिन्दी-साहित्य के क्रमबद्ध विकास को समझने में सहायता मिलेगी इसमें कोई शक नहीं कि लेखक ने एक नये दृष्टिकोण से हिन्दी-संसार के विकास को देखने के लिए हिन्दी-संसार के सामने सामग्री दी है।"

वाणी—'सत्येन्द्रजी हिन्दी [illegible] उन्होंने [illegible] में हैं जिन्हें जानने वाले ही जानते हैं...प्रस्तुत पुस्तक [illegible]ए ऐसा [illegible] में आपने साहित्य मन्दिर के प्रमुख देवताओं के जिस [illegible] और सजावट के साथ दर्शन कराये हैं, उसका वर्णन पर्याप्त नहीं हो सकता।...पुस्तक साहित्योद्यान का सचमुच एक ताजा और सुगन्धित पुष्प है, जिसके सौरभ से काव्य-कानन सुरभित हुए बिना न रहेगा।'

स्वराज्य—"प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को हिन्दी के छुपे हुए 'रत्न' कहा जा सकता है। उनकी यह साहित्य-विवेचनात्मक पुस्तक हिन्दी-साहित्य की विचारधारा समझने वालों के लिए मार्ग-दर्शक का काम देगी।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।